अंक 4

स्वनिम

सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका

हिंदी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे

बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे,
खुले मेरे ख़्वाबों के पर धीरे-धीरे।

किसी को गिराया न ख़ुद को उछाला,
कटा ज़िंदगी का सफ़र धीरे-धीरे।

जहाँ आप पहुँचे छ्लांगे लगाकर,
वहाँ मैं भी आया मगर धीरे-धीरे।

पहाड़ों की कोई चुनौती नहीं थी,
उठाता गया यूँ ही सर धीरे-धीरे।

न हँस कर न रोकर किसी में उड़ेला,
पिया खुद ही अपना ज़हर धीरे-धीरे।

गिरा मैं कहीं तो अकेले में रोया,
गया दर्द से घाव भर धीरे-धीरे।

ज़मीं खेत की साथ लेकर चला था,
उगा उसमें कोई शहर धीरे-धीरे।

मिला क्या न मुझको ए दुनिया तुम्हारी,
मोहब्बत मिली, मगर धीरे-धीरे।

- रामदरश मिश्र

(रामदरश मिश्र अपने जीवन के 100वें वर्ष में प्रवेश कर गए हैं। वे हिन्दी साहित्य संसार के बहुआयामी रचनाकार हैं। उन्होंने गद्य एवं पद्य की लगभग सभी विधाओं में सृजनशीलता का परिचय दिया है और अनूठी रचनाएँ समाज को दी है। उपन्यासों में रामदरश मिश्र ने गाँव और शहर की जिन्दगी के संश्लिष्ट और सघन यथार्थ की गहरी पहचान की है। रामदरश मिश्र की साहित्यिक प्रतिभा बहुआयामी है। उन्होंने कविता , कहानी, उपन्यास, आलोचना और निबंध जैसी प्रमुख विधाओं में तो लिखा ही है, आत्मकथा, यात्रा-वृत्त तथा संस्मरण भी लिखे हैं।)

स्वनिम

सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका
वर्ष : 2 अंक : 4 अप्रैल – जून, 2023

संरक्षक

प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल

कुलपति, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर

समन्वयक

प्रो. मनीष श्रीवास्तव

कुलसचिव (कार्यवाहक), गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर

संपादक

डॉ. गौरी त्रिपाठी

सह-संपादक

डॉ. रमेश कुमार गोहे
श्री मुरली मनोहर सिंह
डॉ. अनीश कुमार

संपादक मण्डल

डॉ. राजेश मिश्र
डॉ. अखिलेश गुप्ता
डॉ. लोकेश कुमार
डॉ. अतुल कुमार
डॉ. अनुपमा कुमारी

परामर्श मण्डल

प्रो. ब्रजेश तिवारी
डॉ. धीरज शुक्ला
डॉ. अनुराग चौहान

हिन्दी विभाग

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय)

कोनी, बिलासपुर (छ. ग.), पिनकोड- 495009
वेबसाइट - www.ggu.ac.in

स्वनिम

वर्ष : 2 अंक : 4 अप्रैल-जून, 2023

सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व-समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका

Refereed and Peer-Reviewed Magazine

© सर्वाधिकार सुरक्षित

वैधानिक चेतावनी - स्वनिम में प्रकाशित रचनाओं के साथ हिन्दी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर या संपादकों की सहमति होना आवश्यक नहीं है। समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र बिलासपुर, छत्तीसगढ़ होगा। सभी रेखाचित्र इन्टरनेट से साभार लिए गए हैं।

संपादन : अवैतनिक

आवरण चित्र : साभार गूगल (भारत की पहली रेल)

साज-सज्जा : डॉ. अनीश कुमार

प्रकाशक व संपादकीय पता

डॉ. गौरी त्रिपाठी

सह-प्राध्यापक व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय)

कोनी, बिलासपुर (छ. ग.), पिनकोड - 495009

वेबसाइट - www.ggu.ac.in

ई-मेल - gauri.tripathi@ggu.ac.in

swanimhindiggv@gmail.com

अनुक्रम

संपादकीय
समय की शिला पर / **डॉ. गौरी त्रिपाठी** / 4

विरासत
रोज़ / **सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय** / 5

विशेष
हिन्दी के महान वैयाकरण किशोरीदास वाजपेयी / **आशुतोष तिवारी** / 11

कविता
आलोक कुमार चक्रवाल/44, मनीष श्रीवास्तव/51, बसन्त राघव/52, केशव शरण/53, सूर्यप्रताप सिंह चौहान/54. मोतीलाल दास/55, प्रीति शर्मा 'असीम'/56, रमेश चन्द्र/57, डॉ. रचना सिंह 'रश्मि'/58. रमेश कुमार सोनी/59, शोभित कुमार/62, सुमति श्रीवास्तव/64, अनुष्का पाण्डेय/64, बबीता कुमारी/66, पूनम गूँजा/ 10, पुष्पेश कुमार पुष्प/70

गज़ल
सृष्टि सिंह / 67

सत्यम भारती / 69

कहानी
मी टाइम / **रंजना जायसवाल** / 71

संदेह की रेखा / **अमित कुमार चौबे** / 75

समय, समाज और संस्कृति
रामविलास शर्मा की दृष्टि में प्रेमचंद / **डॉ. हेरराम सिंह** / 80

प्रवासी जीवन से साक्षात्कार कराती सुधा ओम ढींगरा की कहानियाँ / **प्रकाश चंद बैरवा** / 85

नारी त्रासदी की अंतहीन करूण कथा: बेतवा बहती रही / **डॉ. भगवान गव्हाडे** / 88

समीक्षा
आम जीवन की पड़ताल करती राम नगीना मौर्य की कहानियाँ / **अमित साव** / 91

रौशनी के मानिंद हिंदी पट्टी को राह दिखाती 'स्वनिम' / **विवेक शील** / 95

जिजीवियन
स्त्री की जमीन / **अंशु** / 97

कौन समझे रिश्ता / **हर्षराज** / 98

समय की शिला पर

डॉ. गौरी त्रिपाठी

स्वनिम के पिछले अंकों को पाठकों ने जिस उत्साह से अपनाया है और जो प्रतिक्रियाएं हमें मिली हैं, वह हमारे लिए काफी आश्वस्तिपरक है। हमें विश्वास है कि समय के साथ स्वनिम न सिर्फ गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की सर्जनातक सक्रियता का ही आईना बनेगा, अपितु विश्वविद्यालय के समस्त विभागों की रचनात्मक संभावनाओं को आत्मसात करते हुए तमाम विश्वविद्यालयों की विभागीय पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति का दस्तावेजी स्वरूप जरूर बरकरार रखेगी।

स्वनिम के इस अंक में हमने धरोहर के लिए अज्ञेय की कहानी "रोज़" का चयन किया है। पहले यह कहानी गैंग्रीन नाम से प्रकाशित हुई थी। बाद में अज्ञेय ने इसका नाम बदल कर रोज़ कर दिया। किसी भी रचना के बहुत पहले से उसकी रचना प्रक्रिया शुरू हो जाती है, और रचना के पूरी हो जाने के बाद भी वह पूरी तरह कभी खत्म नहीं होती। इसका उदाहरण है इस कहानी का नाम परिवर्तन।

क्या शीर्षक के बदल जाने से कहानी के भीतर कुछ बदल जाया करता है? शीर्षक का क्या महत्त्व होता है कहानी के लिए? अगर गैंग्रीन के बरक्स इसे पढ़ते हैं तो तो यह कहानी पहाड़ी जीवन की एक आम लेकिन दुरूह समस्या पर लिखी गई कहानी लगती है। दूर से देखने पर जो पहाड़ हमें रोमांचित करते हैं। वहां का यथार्थ यह है कि लोग एक मामूली कांटा चुभने पर गैंग्रीन जैसी भयंकर बीमारी के शिकार हो जाते हैं। उनका पैर काट दिया जाता है। लेकिन जब हम रोज़ शीर्षक के बरक्स इसी कहानी को पढ़ते हैं तो यह स्त्री जीवन के ऊब और अवसाद की कहानी लगने लगती है। मालती के माध्यम से रोज़ कहानी भारतीय लड़कियों की त्रासद कथा का बयान करती स्त्री-जीवन की ऊब, नीरसता और ठहराव के ही दुहराव की कहानी लगती है। घर की नटखट लड़की का स्त्री होना वैसे ही है जैसे किसी चंचल और नटखट नदी का थके उदास और ठहरे तालाब में बदल जाना। कहीं कोई तरंग नहीं। एक ही दिनचर्या का रोज दुहराव। तो क्या शीर्षक किसी रचना के पाठ की संभावना को अलग आयाम देता है? इस दृष्टि से भी यह कहानी पढ़ी जानी चाहिए। कहानी के केंद्र में मालती है। मालती में असंख्य भारतीय स्त्रियों की कहानी की असंख्य परतें खुलती और फिर बिना किसी आहट, बिना किसी सिसकी के चुपचाप बन्द हो जाती हैं।

50 के दशक में स्त्री चरित्रों के माध्यम से एक निस्पंद उदासी का कांपता, थरथराता वातावरण हिंदी कहानी के भीतर बार-बार दिखाई देता है। जैसा कि इस कहानी में भी है, वैसे ही परिंदे की लतिका या कृष्णा सोबती की बादलों के घेरे, या मोहन राकेश की कहानी मिसपाल, सबमें पहाड़ी कस्बे का लोकेल, चीड़ के दरख़्त, जमीन पर बिखरी सूखी पत्तियों की मर्मर। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हिंदी का नयी कहानी आंदोलन किसी सैलानी का दृष्टि विस्तार है। इसके अलावा अन्य सभी स्थायी स्तंभों के साथ ही जिजीवीयन की ताजा कलम की बानगी।

इस अंक में हम अपने कुलपति प्रोफेसर आलोक चक्रवाल जी की कुछ कविताओं को अंक की विशेष उपलब्धि के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। इन कविताओं से गुजरते हुए आपको सहज ही लगेगा कि- "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावँ।"

आशा है हमारी यह कोशिश आपके लिए एक बार फिर संग्रहणीय होगी।

रोज़

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

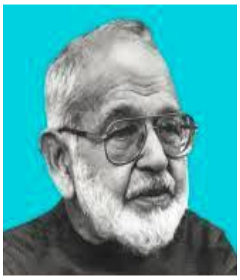

प्रसिद्ध कवि, लेखक एवं स्वाधीनता संग्राम सेनानी। प्रयोगवादी कविता के जनक और प्रतीक पत्रिका के संपादक। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित।

दोपहर में उस सूने आँगन में पैर रखते हुए मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था...मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ!" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा, 'वे यहाँ नहीं है?'

"अभी आये नहीं, दफ़्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जाएँगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कब के गये हुए हैं?"

"सवेरे उठते ही चले जाते हैं।"

"मैं 'हूँ' कर पूछने को हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो?" पर फिर सोचा, 'आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नहीं हैं। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली,"वाह! चाहिए कैसे नहीं? इतनी धूप में तो आये हो। यहाँ तो..."

मैंने कहा, "अच्छा, लाओ, मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करनेवाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज़ सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेककर एक थकी हुई 'हुंह' करके उठी और भीतर चली गयी।

मैं उसके जाते हुए, दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा – यह क्या है... यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है...

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा...

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखना आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है...और विशेषतया मालती पर....

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी। मैंने अपनी कुरसी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टीटी, आ जा," पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा, "उहुं-उहुं-उहुं-ऊं..."

मालती ने फिर उसकी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी...

काफ़ी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की... यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ... चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गयी? या अब मुझे दूर-

इस विशेष अन्तर पर-रखना चाहती है? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती... पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए...

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई-"

उसने एकाएक चौंककर कहा, "हूँ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इसलिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, 'केवल विस्मय के कारण। इसलिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा, उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमंडल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो... वैसे जैसे देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता... मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतारकर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये...

> **मालती मेरी ओर देखकर बोली, "ऐसे ही होते हैं, डॉक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है! मैं तो रोज़ ही ऐसी बातें सुनती हूँ! अब कोई मर-मुर जाए तो ख़याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात-भर नींद नहीं आया**

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाये। मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये। मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि फ़ोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठकर बातचीत करने लगे, उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर...

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेन्सरी के डॉक्टर हैं, उसी हैसियत से इन क्वार्टरों में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं, उसके बाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घंटे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेन्सरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य ज़रूरी हिदायतें करने... उनका जीवन भी बिलकुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ। वह स्वयं उकताये हुए हैं और इसीलिए और साथ ही इस भयंकर गरमी के कारण वह अपने फ़ुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं...

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खोओगी? या खा चुकीं?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर, "वह पीछे खाया करती है..." पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले, "आपको तो खाने का मज़ा क्या ही आयेगा ऐसे बेवक़्त खा रहे हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह! देर से खाने पर तो और अच्छा लगता है, भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहिन को कष्ट होगा।"

मालती टोककर बोली, "ऊँहू, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है... रोज़ ही ऐसा होता है..."

मालती बच्चे को गोद में लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा, "यह रोता क्यों है?"

मालती बोली, "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।"

फिर बच्चे को डाँटकर कहा, "चुपकर।" जिससे वह और भी रोने लगा, मालती ने भूमि पर बैठा दिया। और बोली, "अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी!

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजने वाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, यहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिनका ऑपरेशन करना पड़ेगा... दो की शायद टाँग काटनी पड़े, गैंग्रीन हो गया है... थोड़ी ही देर में वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गयी। मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर...शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है "तीन बज गये..." मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो...

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब-कुछ तो..."

"बहुत था।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था।" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्ज़ी-वब्ज़ी तो कुछ होती ही नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं; मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्ज़ी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है...

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद एक-दो दिन में हो जाए।"

"बरतन भी तुम्हीं माँजती हो?"

"और कौन?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आयी।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थीं?"

"आज पानी ही नहीं है, बरतन कैसे मँजेंगे?"

"क्यों, पानी को क्या हुआ?"

"रोज़ ही होता है... कभी वक़्त पर तो आता नहीं, आज शाम को सात बजे आएगा, तब बरतन मँजेंगे।"

"चलो, तुम्हें सात बजे तक छुट्टी हुई," कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई?'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था, पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आये कैसे?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, ज़रूरी जाना है।"

मैंने देखा, उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमंडल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो... वैसे जैसे देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृति में मानो मर गया है।

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न सी हो गयी। मैं फिर नोटबुक की तरफ़ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने किन्तु, यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाये? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानो मुझे भी वश में कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे-हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती...

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं?" मैं चारों और देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ!" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, 'यहाँ पढ़ने को है क्या?'

मैंने कहा, "अच्छा, मैं वापस जाकर ज़रूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा..." और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया...

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारी में?"

"पैदल।"

"इतनी दूर? बड़ी हिम्मत की।"

"आख़िर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस..." कहकर मालती चुप रह गयी फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं, बिलकुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके हैं?"

"और तुम क्या करोगी?"

"मैं बरतन माँज रखती हूँ, पानी आएगा तो धुल जाएँगे।"

मैंने कहा, "वाह!" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं...

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा... मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बरतनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एक-स्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा...

एकाएक वह एक-स्वर टूट गया – मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा…

चार खड़क रहे थे और इसी का पहला घंटा सुनकर मालती रुक गयी थी… वही तीन बजेवाली बात मैंने फिर देखी, अबकी बार उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिलकुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यन्त्रवत् – वह भी थके हुए यन्त्र के से स्वर में कह रही है, "चार बज गये", मानो इस अनैच्छिक समय को गिनने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडो मीटर यन्त्रवत् फ़ासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर में कहता है (किससे!) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया… न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी।

तब छह कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की?"

उन्होंने किंचित् ग्लानि-भरे स्वर में कहा, "हाँ, आज वह गैंग्रीन का आपरेशन करना ही पड़ा, एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा" गैंग्रीन कैसे हो गया।"

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज़ में उसने कहा, "ग्यारह बज गये..."

"एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया, बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के…"

मैंने पूछा, "यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं? आय के लिहाज से नहीं, डॉक्टरी के अभ्यास के लिए?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही गैंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है, नीचे बड़े अस्पतालों में भी…"

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गयी, "बोली, "हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है? काँटा चुभा था, इस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डॉक्टरी है? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास!"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटें तो उसकी जान गँवाएँ?"

"हाँ, पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हैं…"

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये। मालती मेरी ओर देखकर बोली, "ऐसे ही होते हैं, डॉक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है! मैं तो रोज़ ही ऐसी बातें सुनती हूँ! अब कोई मर-मुर जाए तो ख़याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात-भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा – टिप् टिप् टिप्-टिप्-टिप्-टिप्…

मालती ने कहा, "पानी!" और उठकर चली गयी। खनखनाहट से हमने जाना, बरतन धोए जाने लगे हैं…

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था, अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा, "उधर मत जा!" और उसे गोद में उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

महेश्वर बोले, "अब रो-रोकर सो जाएगा, तभी घर में चैन होगी।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं? गरमी तो बहुत होती है?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाये? अब के नीचे जाएँगे तो चारपाइयाँ ले आएँगे।" फिर कुछ रुककर बोले, "आज तो बाहर ही सोएँगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ", और दूसरी ओर से पलंग उठाकर निकलवा दिये।

अब हम तीनों… महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छुपाने के लिए टिटी से खेलने लगे, बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्त्तव्य याद करके रो उठता या, और फिर एकदम चुप हो जाता था… और कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे…

मालती बरतन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, "थोड़े-से आम लाया हूँ, वह भी धो लेना।"

"कहाँ हैं?"

"अँगीठी पर रखे हैं, काग़ज़ में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये। जिस काग़ज़ में वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी... वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया...बहुत दिनों की बात थी... जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी विजय थी हाज़िरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूरी पर आम के बग़ीचे में पेड़ों पर चढ़कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़ खाना। मुझे याद आया... कभी जब मैं भाग आता और मालती नहीं आ पाती थी तब मैं भी खिन्न-मन लौट आया करता था।

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे, एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि इसके बीस पेज रोज़ पढ़ा करो, हफ़्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज, फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फ़र्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली?" तो उत्तर दिया..."हाँ, कर ली," पिता ने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा, तो चुप खड़ी रही। पिता ने कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, "किताब मैंने फाड़ कर फेंक दी है, मैं नहीं पढ़ूँगी।"

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसक कर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है। इस समय मैं यही सोच रहा था कि वह उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है... यह क्या, यह...

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी!"

"बस, अभी बनाती हूँ।"

पर अबकी बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्त्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढ़ा कर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोद में लेकर चली गयी, रसोई में बैठ कर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरों पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती पलंग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा, "आप तो थके होंगे, सो जाइये।"

वह बोले, "थके तो आप अधिक होंगे... अठारह मील पैदल चल कर आये हैं।" किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया... थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोड़ी देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वह ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में – यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं, लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा। पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा-उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेट की छत भी चाँदनी में चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो...

मैंने देखा, पवन में चीड़ के वृक्ष... गरमी से सूख कर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष... धीरे-धीरे गा रहे हों... कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं, अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं...

मैंने देखा, प्रकाश से धुँधले नीले आकाश के तट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

मैंने देखा – दिन-भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप से उठकर वातावरण में खोये जा रहे हैं, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़ वृक्षरूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं...

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने... महेश्वर ऊँघे रहे थे और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर दही जमाने के लिए मिट्टी का बरतन गरम पानी से धो रही थी, और कह रही थी..."अभी छुट्टी

हुई जाती है।" और मेरे कहने पर ही कि "ग्यारह बजने वाले हैं," धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज़ ही इतने बज जाते हैं... मालती ने वह सब-कुछ नहीं देखा, मालती का जीवन अपनी रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के लिए रुकने को तैयार नहीं था...

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसक कर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। महेश्वर ने चौंककर कहा – "क्या हुआ?" मैं झपट कर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आयी, मैंने उस 'खट्' शब्द को याद करके धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा, "चोट बहुत लग गयी बेचारे के।"

यह सब मानो एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती है, रोज़ ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा – मेरे मन न भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला – "माँ, युवती माँ, यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो – और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है!"

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी भयंकर छाया घर कर गयी है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया...

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गयी थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को या तारों को?

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज़ में उसने कहा, "ग्यारह बज गये..."

कविता

पूनम गूँजा
पुरी, ओडिशा

स्त्री

जब तक स्त्री सुनती है, चुप रहती है,
घर के सारे काम करती है,
हाँ में हाँ मिलाती है, बिना सही गलत समझे,
तब तक हि लोग उसे कुलिन, समझदार, संस्कारी,
अच्छा होने का पदक देते हैं।

एक बार जो उसने गलत के खिलाफ आवाज़ उठाई,
अपने हक के लिए कुछ कहा,
लोगों को सारी बुराइयां उसी स्त्री मे नज़र आ जाती है।

अपने हक के लिए जो आवाज़ ना उठाए,
वो जीते जी हर पल मरता है।
अच्छा है, बुरा हो जाना।। सहने से तो बेहतर है।।

हिन्दी के महान वैयाकरण किशोरीदास वाजपेयी

आशुतोष तिवारी

आशुतोष तिवारी हिन्दी के प्रमुख आलोचक थे। आज हम सभी के बीच वह नहीं हैं। यह आलेख हम श्रद्धांजलि स्वरूप प्रकाशित कर रहे हैं।

हिन्दी के शिखर-पुरुष डॉ. रामविलास शर्मा ने एक बार किसी बातचीत में हिन्दी के चार साहित्यकारों का नाम लेते हुए कहा था कि इन्हें विश्व की किसी भी भाषा के महानतम लेखकों के साथ रखा जा सकता है। हिन्दी की वे चार विभूतियाँ हैं- प्रेमचन्द, आचार्च रामचन्द्र शुक्ल, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और किशोरीदास वाजपेयी।

बिगत वर्षों में ही चार विभूतियों में से एक किशोरीदास वाजपेयी का जन्मशती वर्ष बीत चुका है और इस दौरान दौरान वाणी प्रकाशन से प्रकाशित 'तीन महारथियों के पत्र' (सं-रामविलास शर्मा) जिसमें डॉ. रामविलास शर्मा को लिखे गये हिन्दी के तीन महारथियों के पत्रों में वृन्दावन लाल वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ किशोरीदास वाजपेयी के पत्र भी शामिल हैं। और कथादेश में प्रकाशित कुबेरदत्त के आलेख को छोड़ दें तो संभवतः किसी अन्य पत्रिका में शायद ही इस दौरान उनके ऊपर किसी स्वतंत्र लेख तक का भी प्रकाशन हुआ हो। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का समुचित मूल्यांकन किए जाने का कोई गंभीर प्रयास किये जाने की तो बात छोड़िए; उनके जीवन और कृतित्व को लेकर एक भी स्वतंत्र पुस्तक का न होना किशोरीदास जी के प्रति बरती जा रही गहरी उपेक्षा नहीं तो और क्या है? आज भी बहुसंख्यक हिन्दी जनता किशोरीदास जी के अवदान और उनके जीवन से अपरिचित ही है। अपना जीवन हिन्दी के लिए ही होम कर देने वाले, उसे संवारने और उसके व्याकरण को नया आकार देने वाले किशोरीदास के प्रति हिन्दी संसार का यह क्रूर रवैया कृतघ्नता नहीं तो और क्या है?

भाषा-विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में युगांतकारी कार्य करने वाले हिन्दी के इस महान वैयाकरण के प्रति किये जा रहे इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर राहुल जी ने सच ही लिखा था- "आज की दुनिया में कितना अंधेर है, विशेषकर हमारे देश का सांस्कृतिक तल कितना नीचा है इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण हमें पं किशोरीदास वाजपेयी के साथ हुए और हो रहे बर्ताव से मालूम होता है। प्रतिभाएं सभी क्षेत्रों में एवरेस्ट शिखर नहीं होतीं, परंतु जब किसी क्षेत्र मे किसी पुरुष का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना और उससे काम लेना समाज का कर्तव्य है। आज बहुत थोड़े लोग हैं, जो पं. किशोरीदास जी को समझते हैं। उनमें बहुतेरे उनके अक्खड़ स्वभाव या अपनी ईर्ष्या से नहीं चाहते कि लोग इस अनमोल हीरे को समझें, इसकी कदर करें।"[1] अपने इस ऐतिहासिक महत्व के लेख में राहुल जी ने आगे लिख है- "गर्व करता है, झगड़ालू है आदि कहकर हम किशोरीदास जी जैसी प्रतिभाओं की उपेक्षा कर के आने वाली पीढ़ियों को मुंह नहीं दिखा सकते। किशोरीदास जी वैसे ही चुपचाप चले जाते जैसे बालू की पदरेख तो दूसरी बात थी पर उन्होंने जो थोड़ी सी चीजें हमें दी हैं, वे उनकी असाधारण क्षमता का परिचय देंगी और फिर कैसे हम उनके समकालीन अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो सकेंगे ?"[2]

राहुल जी अत्यंत आवेश में कहते हैं- "क्या यह दुनिया एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने लायक है, जिसमें अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले और ऐरे-गैरे-नत्थू खैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखलाएँ ?"[3]

दरअसल किशोरीदास बाजपेयी की पूरी जीवन कथा ही संघर्षों की महा-गाथा है। इन संघर्षों ने उन्हें और भी उग्र तथा तीक्ष्ण बनाया। किशोरीदास के पितामह पं. कन्हैयालाल वाजपेयी ने सन् 1857 के स्वाधीनता समर में भाग लिया था। उसका दण्ड भी उन्हें भुगतना पड़ा। उन्होंने गरीबी में अपने दिन गुजारे पर अपने स्वाभिमान को आंच न आने दी। किशोरीदास के पिता सतीदीन वाजपेयी ने भी बहुत गरीबी

का जीवन बिताया। वे सूरमा भाई के नाम से प्रसिद्ध थे। यथा नाम तथा गुण। स्वाभिमान, देशभक्ति, गरीबी और दृढ़ता की पैतृक संपत्ति वाले इस परिवार में ही हिन्दी के इस महावैयाकरण का जन्म हुआ। गोविन्द प्रसाद (किशोरीदास जी का मूल नाम) को शुरुआती शिक्षा के लिए गांव से डेढ़ मील दूर स्थित एक कस्बे मन्धना के मदरसे में भेजा गया।

अपने इन दिनों के बारे में लिखते हुए किशोरीदास जी लिखते हैं- "आम देहात में तब बिकते न थे। बड़े आदमी आम आदि का बाग लगवाना पुण्य और प्रतिष्ठा का काम समझते थे। हमारे घर में भी आम-जामुन आते थे। आम के दिनों में मजे से काम चल जाता था। गरीब लोग गुठली फेंकते न थे। आंगन के एक कोने में जमा कर लेते और बरसात में उबालकर उनकी गिरी निकालकर खाते थे। मैंने अपने घर में ऐसा देखा, और लोग भी करते होंगे। गुठली उबालते खाते समय बाहर का दरवाजा बंद कर लिया जाता था। माँ ने मुझसे कह रखा था कि किसी से कहना नहीं कि गुठली खाई है। बड़ी तेजस्विता का रहन-सहन था।"[4] गरीबी और संघर्ष तो जैसे वाजपेयी परिवार के चिर सखा थे। वाजपेयी जी के पिता अपनी पुत्री को लेने उसके ससुराल गए। गांव में प्लेग का प्रकोप था। वापस आते ही वे प्लेग के शिकार हो गए। प्लेग ने ही कुछ समय बाद उनकी माँ और बहन के भी प्राण लिए।

माँ ने मरते समय विरासत में कपड़े की एक पोटली में दस रुपए और चांदी के दो छोटे-छोटे खंडवे (कड़े) छोड़े थे। किशोरीदास जी के सामने अब एक विकट समस्या थी। मातृहीन-पितृहीन पुत्र। करे भी तो क्या करे? उन्होंने आलू उबालकर, नमक-मिर्च और हरी धनिया से कचालू तैयार किया और गांव के नजदीकी स्टेशन जहां गाड़ी मुश्किल से दो मिनट रुकती थी, कचालू बेचने जा पहुंचे। कुल चार दोने बिके। दो आने मिले जबकि चार आने खर्च हो चुके थे। व्यापार भी सबके बूते की बात नहीं। वे वहां से चलकर अपने मामा जी के पास जा पहुंचे। कुछ समय रहे भी पर वहां उनका मन न लग सका। मामा-मौसी को छोड़कर वापस अपने गांव जा पहुँचें, वहाँ छः पैसे रोज पर वह खेत में जाकर निराने की मजूरी करने लगे। मजूरी कभी मिलती, कभी नहीं भी मिलती। परेशान होकर यह काम छोड़ वे गाँव के ही कालीचरण पाठक की भैंसे चराने लगे, बदले में वे प्रतिदिन कुछ अन्न और लोटा भर मट्ठा देते थे। एक दिन भैंस किसी के खेत में घुस गयी और इसी समय खेत का मालिक भी आ पहुंचा। उसने आव देखा न ताव, किशोरीदास के गालों पर एक झापड़ जड़ दिया। चोट शारीरिक तो कम पर मानसिक ज्यादा लगी। वे वहाँ रूक न सके। और घूमते-घामते अपने चाचा के यहाँ कानपुर जा पहुँचें। उन्होंने इन्हें एक मिल में काम दिला दिया। वहाँ अक्सर अपने चचेरे भाई को पढ़ते देख अध्ययन की ललक उठती लेकिन करते भी क्या ? एक दिन वेतन मिलने के दिन चाचा आ न पाए और उन्होंने पगार उठाई और उस जगह को राम-राम किया। मिल से निकल कुछ दिन मकान पुताई करने वाले मजदूरों के साथ काम किया और एक जगह से दूसरी जगह घूमते इसी तरह एक दिन मुहाल की गोपाल संस्कृत पाठशाला जा पहुँचें। वहाँ भी उन्हें गाँव के ही एक साथी श्याम सुन्दर शुक्ल मिल गए। उन्होने इन्हें शाला में भर्ती करा दिया। लेकिन किशोरीदास जी के पांव में तो जैसे चक्कर था। उनके पांव वहाँ भी न टिक सके।

कुछ ऐसी घटना घटी कि उन्हें वह पाठशाला छोड़नी पड़ी। वे वृन्दावन जा पहुँचें। वहाँ की एक पंजाबिन वृद्धा ने इन्हें अपने मंदिर का पुजारी नियुक्त कर दिया। यहीं वे निम्बार्क सम्प्रदाय के रसिक वैष्णव साधुओं के सम्पर्क में आए। यहीं के एक त्यागी महात्मा से उन्होंने दीक्षा लेने की सोची। उसने शर्त लगाई- तुम्हें संस्कृत पढ़नी होगी। वृन्दावन में रसिक सम्प्रदाय का जोर था। वे इसके गहरे प्रभाव में थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि उनका नाम किशोरीदास हो, सो दीक्षा गुरू ने जब पूछा- 'नाम क्या है' ? तो जवाब मिला 'किशोरी लाल' इस तरह गोविन्द प्रसाद (पिता का दिया हुआ नाम) किशोरीदास हो गए।

वृन्दावन में किशोरीदास डूबकर संस्कृत के अध्ययन में जुट गए। सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक पंडित किशोरी लाल गोस्वामी वृन्दावन से निकलने वाले 'वैष्णव सर्वस्व' के सम्पादक थे। यह निम्बार्क सम्प्रदाय का मासिक पत्र था। सन् 1916 में इसी पत्रिका में किशोरीदास का प्रथम लेख प्रकाशित हुआ- 'दशधा भक्ति। वैष्णव सम्प्रदाय के मधुसूदन गोस्वामी, किशोरी लाल गोस्वामी और राधाचरण गोस्वामी जैसे हिन्दी के के आरंभिक नामों के संपर्क में आकर उनका हिन्दी लगाव बढ़ा। इसी दौरान एक घटना का उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं- "श्री किशोरी लाल गोस्वामी से इसलिए झगड़ बैठा था कि मेरे एक वाक्य में 'दश प्रकार की भक्ति' के दश को काटकर 'दस' गलत क्यों कर दिया गया। गोस्वामी जी उस समय मुस्कराकर इतना बोले थे कि हिन्दी में 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है यह सब मालूम हो जाएगा।" राहुल जी ने इस घटना का विवरण देते हुए लिखा है- 'यह देखने में छोटी सी बात शिक्षा थी। वे समझने लगे थे कि हिन्दी एकदम संस्कृत की चेरी नहीं है, इसलिए हर समय उस पर संस्कृत का व्याकरण लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।'[5]

हिन्दी की ओर झुकाव के बावजूद वाजपेयी जी विधिवत संस्कृत का अध्ययन करते रहे और संस्कृत की परीक्षाएं देते रहे। सन् 1919 में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की सर्वोच्च संस्कृत परीक्षा दी और उसमें सर्वप्रथम रहे। राहुल जी लिखते हैं- "परीक्षा का परिणाम उस साल कितना कठिन था। यह इसी से मालूम होगा कि हमारे कालेज से भेजे परीक्षार्थियों में से एक भी न पास हुआ। मैं घर के इम्तहान में प्रथम आया था और विश्वविद्यालय परीक्षा में चारों खाने चित्त होने वालों में भी प्रथम था। मार्शल ला के समय मे ही परीक्षा का परिणाम निकला, जिसमें उस साल 'शास्त्री' में सर्वप्रथम आने वाले छात्र का नाम था- किशोरीदास।" सभी विद्यार्थियों के मन में यह जिज्ञासा थी कि शास्त्री परीक्षा हत्याकाण्ड में यह असाधारण सफलता प्राप्त वीर कौन है ? हमें यही मालूम हो सका कि वह वृन्दावन का एक वैष्णव साधु है। उस

समय हम यही आशा रखते थे कि किशोरीदास पुराने विचारों का, पगडंडी पर चलने वाला, हमारे सैकड़ों संस्कृत के विद्वानों में से एक होगा। उस समय हम उसी युग में थें जबकि संस्कृत के विद्वान भी हिन्दी को उसी दृष्टि से देखते थे, जैसे हिन्दू आंग्लियन लोग गँवारों और असंस्कृतों की श्रद्धाभाजन भाषा को, जिसमें समझने और सुनने लायक कुछ भी नहीं है।"[6]

पंजाब विश्वविद्यालय में शास्त्री परीक्षा में सर्वप्रथम आने का फल भी मिला। पहले तो वह सनातन धर्म विद्यालय रावलपिंडी में अध्यापक हुए लेकिन वहाँ जम न सके और पेशावर के नेशनल हाईस्कूल में हेड पंडित हो गए। इन्हीं दिनों एक और घटना घटी, जिसका उल्लेख जरूरी है। विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह होना था। वाजपेयी जी शास्त्री परीक्षा में सर्वप्रथम थे। उन्हें भी इस समारोह में उपाधि-पत्र लेना था, पर हत्यारे डायर के हाथों उपाधि लेना वाजपेयी जी देशद्रोह से कम नहीं समझ रहे थे। यह अच्छा ही रहा कि उपाधि वितरण के कुछ समय पूर्व डायर की जगह मैकलेगन गवर्नर होकर आया।

विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में शामिल होने हेतु उनके पास एक सूचना पत्र आया। इसमें कुछ विशेष निर्देश थे जैसे शास्त्री का गाउन सफेद सिल्क का होगा, जिसमें रेशम की पतली किनारी होगी, सिर पर हैट होगा या पगड़ी। साथ ही पैंट या पैजामा पहनने में कोई उज्र न था पर इस विशेष मौके पर धोती का जान-बूझकर किया गया बहिष्कार सरासर अनुचित लगा। उन्होंने तय किया कि वह धोती पहनकर ही जाएंगे।

लाहौर जाकर उन्होंने गाउन, सफेद साफा और काला कोट खरीदा, धोती तो पास थी ही। जर्मन निवासी तथा संस्कृत-प्राकृत के विद्वान मि. बुलनर उस समय विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे। एक दिन पहले लोगों को दीक्षान्त समारोह के रिहर्सल के लिए बुलाया गया। विश्वविद्यालय के सहायक रजिस्ट्रार पी. एन. दत्त बारी-बारी से बी.ए., एम.ए., शास्त्री, एल, एल, बी. आदि के समूहों को दीक्षान्त समारोह में शामिल होने के तौर-तरीके सिखा रहे थे कि कैसे गवर्नर से डिप्लोमा लेकर दोनो हाथें से उसे माथे से लगाना है, कैसे जब गवर्नर हाथ मिलाने के लिए बढ़ाएं तो किस तरह बाएं हाथ में दाहिना हाथ लेकर थोड़ा सिर झुकाकर आगे बढ़ना है और फिर हाथ मिलाकर चार कदम पीछे हटना है, ध्यान रहे मुँह गवर्नर साहब की ओर हो।

वाजपेयी जी ने सब कुछ सुना लेकिन उनके मन में जालियांवाला बाग हत्याकाण्ड की घटना अभी ताजा ही थी। अगले दिन दीक्षान्त समारोह में शास्त्री जी की बारी आई। एक अधिकारी किशोरीदास जी को लेकर मंच की ओर चला। उसने फिर मंच पर चढ़ने हेतु इशारा किया। लेकिन यह क्या ? उन्होंने तो मानो एक दिन पूर्व दिए गए एक भी निर्देश का पालन न करने की जैसे ठान रखी थी। गवर्नर ने उपाधि पत्र बढ़ाया तो वाजपेयी जी ने उसे एक ही हाथ से ले लिया। सिर झुकाने और हाथ मिलाने की बात तो दूर, सामान्य औपचारिक अभिवादन तक नहीं किया। तहलका मच गया। किसी ने घटना पर टिप्पणी की तो वाजपेयी जी भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया।

पेशावर के हाई स्कूल में हेड पंडित हो जाने से उन्हें जीविका का एक आलंबन मिला था। यह दुर्योग ही था कि वाजपेयी जी किसी भी स्थान पर टिक कर न रह पाते थे। पेशावर ये पुनः वह पुडंरी के एक हाई स्कूल में संस्कृत के शिक्षक हुए। इसी दौरान घटी एक घटना ने उन्हें हिन्दी में ही लिखने के प्रति उनके गहरे झुकाव को और बढ़ावा दिया तथा उन्होंने हिन्दी में ही लिखने का संकल्प लिया।

किशोरीदास जी ने हाई स्कूल में संस्कृत अध्यापन के दौरान ही सरल संस्कृत में एक पुस्तक लिखी जिसमें लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गांधी आदि का जीवन परिचय बीच-बीच में सरस संस्कृत पद्यों के साथ दिया गया था। वे यह चाहते थें कि यह पुस्तक मैट्रिक की कक्षाओं लग जाती तो अच्छा ओता। उन्होंने अम्बाला के स्कूल इंस्पेक्टर और संस्कृत के विद्वान आत्माराम को पुंडरी आने पर यह पुस्तक दिखाई। आत्माराम ने पुस्तक की तो खूब तारीफ की पर साथ में यह सलाह भी दी कि रानी विक्टोरिया, ईसा मसीह व वर्तमान सम्राट के बारे में भी इसमें लिखिए। ईसा मसीह का परिचय देने हेतु तो वह सहर्ष तैयार हो थे पर बाकी के लिए उन्होंने दृढ़ता से मना कर दिया। आत्माराम ने जवाब दिया-'तब यह पुस्तक न छप सकेगी' वाजपेयी जी ने इस घटना का विवरण देते हुए लिखा है- "उनका यह वाक्य सुनकर उन्हीं के सामने पुस्तक फाड़कर फेंक दी। बस संस्कृत से हटकर हिन्दी में आ गया।"

वे हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में लेख भेजने लगे। उन्होंने रस, अंलकार और काव्य की आलोचना को अपनी विषय बनाया लेकिन जालियांवाला बाग में हुए क्रूर नरसंहार से वे गहराई तक आहत हुए थे। ब्रिटिश दासता से मुक्ति का स्वप्न भी उनके मन में था। जालियांवाला बाग में हुई पाशविक घटना की याद उनके मन अभी ताजा ही थी। 1921 में उन्होंने इसके ऊपर एक आख्यायिका लिखकर हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई भेजा। प्रकाशक श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा- "आपकी चीज अच्छी है; पर हम प्रकाशित न कर सकेंगे। हमारे यहाँ से स्थाई साहित्य ही प्रकाशित होता है। परंतु आपकी भाषा मुझे बहुत अच्छी लगी। एक शास्त्री की ऐसी टकसाली सरल भाषा प्रशंसनीय है। यदि आप कुछ जैन ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद कर दें तो मैं भेज दूँ उन्हें 'जैन-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय' प्रकाशित करेगा। पहले 'प्रद्युम्न-चरित', 'अनिरूद्ध-चरित' तथा 'पार्श्वनाथ-चरित' का अनुवाद होगा। प्रति पृष्ठ एक रूपए के हिसाब से पारिश्रमिक दिया जाएगा। इच्छा हो तो लिखें। आपकी पुस्तक वापस भेज रहा हूँ।"[7]

वाजपेयी जी की भाषा निस्संदेह प्रेमी जी को अच्छी लगी थी। किशोरीदास जी ने इस संदर्भ में लिखा- "इस पत्र से मैने समझा कि लोग कैसी भाषा पसंद करते हैं। इससे पहले मुझे इसका ज्ञान न था।

जैसी प्रवृति थी, लिखता था। इससे मैंने अपनी भाषा का स्वरूप सदा के लिए स्थिर कर लिया। इस प्रकार प्रेमी जी मेरी भाषा के निर्देशक हैं।"[8] यद्यपि प्रेमी जी द्वारा तीनों ग्रंथ भेजे जाने के बावजूद किशोदास जी ने उनका अनुवाद नहीं किया। उन्हें इनके कथानक की कल्पना ही पसंद नहीं थी। साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में ही भरपूर आर्थिक लाभ और नाम लिप्सा से बचने के ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं।

यह और बात है कि प्रेमी जी भी दूसरी ही मिट्टी के जीव थे। वे किशोरीदास जी की भाषा के कायल तो थे ही साथ ही उनकी प्रतिभा से प्रभावित भी थे। उन्होंने किशारी दरस जी की किताब 'रस-अलंकार' प्रकाशित की जिसे 1931 में बम्बई सरकार ने जब्त करने के आदेश दे दिए।

'रस-अलंकार' जैसे विषय पर लिखी गई पुस्तक का जब्त होना अनोखी बात थी। किताब पर सरकारी कोप का कारण यह था कि उसमें दिए गए सारे उदाहरण राष्ट्रीय थे। प्रेमी जी का स्नेह इसके बावजूद वाजपेयी जी पर बराबर बना रहा। पुस्तक जब्त होने के बावजूद उन्हें इसका पूरा पारिश्रमिक मिला। प्रेमी जी ने इनकी दो किताबें प्रकाशित की और कई बार तो वे इन्हें पेशगी पारिश्रमिक भी देते रहे। प्रकाशकों का सरल और भला-मानुष मिलना आश्चर्य नहीं तो और क्या है? यह उचित ही था कि किशोरीदास जी ने प्रेमी जी को आदर्श साहित्य-सेवी और उच्च विचार का एक ऐसा व्यक्ति माना जिसके प्रति स्वतः ही श्रद्धा का उद्रेक होता है।

वाजपेयी जी की पुस्तकें तो प्रकाशित होने लगी थीं लेकिन उनके पैर एक जगह टिकते ही न थे। सन् 1920 से 1926 के बीच के छह सालों में वे सात जगहें बदल चुके थे। सन् 1930-35 की अवधि में उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी की। आंदोलन में भाग लेने के कारण न केवल उनकी सरकारी नौकरी छूटी बल्कि उन्हें सामान की कुर्की से लेकर नीलामी तक सब कुछ झेलना पड़ा।

अर्थोपार्जन जीवन की गाड़ी चलाने हेतु जरूरी था। इस अर्थ की चिंता ने भी बाजपेयी जी को तरह-तरह के पापड़ बेलने हेतु विवश किया। घनघोर अर्थसंकट के ही दिनों में वाजपेयी जी ने 'दुलारे दोहावली' पर देव पुरस्कार पाने खबर पढ़ी। यह उस समय का दिया जाने वाला सबसे बड़ी रकम का पुरस्कार था। ब्रज भाषा की कविता पर दिये जाने वाले इस पुरस्कार हेतु उन्होंने एक माह में तीन सौ दोहे रच डाले।

किशोरीदास जी आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आदर करते थे, सो प्रकाशन के पूर्व सम्मति देने हंतु उन्होंने शुक्ल जी से पत्राचार किया। यह पत्र-व्यवहार वाजपेयी जी एक अन्य पक्ष को स्पष्ट करता है। आमतौर हिन्दी समाज में वाजपेयी जी की छवि एक हठधर्मी साहित्यकार की ही बना दी गई है, पर स्थिति इससे एकदम अलग थी। वाजपेयी जी सही बात को मानने और अपनी भूलों का परिमार्जन करने में देर न करते थे बशर्ते वह तर्क पुष्ट हो। किशोरीदास जी को जवाब देते हुए 16-12-35 को लिखे गए एक पत्र में शुक्ल जी ने इन दोहों के बारे में उन्हें लिखा-

"आपका पत्र पाकर पहले तो मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आने मुझे उन दोहों के संबंध कुछ सम्मति देने का अधिकारी समझा फिर यह समझकर कि सहृदय सज्जनों की कृपा अधिकारी-अनधिकारी का भेद कभी नहीं करती, मैने अपना समाधान कर लिया। दोहे बहुत सुन्दर उतरे हैं आप उन्हें अवश्य छपाएं। उनमें सरसता भी और चमत्कार भी। सबसे अच्छी बात है यह कि उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत है- एक ही रस या प्रसंग से परिमित नहीं हैं। जीवन के सामान्य मार्मिक तथ्यों से लेकर आज की विशेष प्रवृत्तियों की बड़ी सुन्दर व्यंजना उनमें है। हां, एक निवेदन मेरा है वह यह कि दोहों को आप एक बार इस बात पर दृष्टि रखकर दुहरा जाएं कि आपका भाव पूर्णतया समझ लेने में कहीं कुछ कठिनता तो न होगी। जैसे दोहा नं. 6 में 'ताको करत प्रचार' में ताको का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता।

इतने सुन्दर दोहों के बीच यदि कुछ सामान्य कोटि के दोहे होंगे तो वे खटकेंगे जैसे दोहा नं. 12। अतः मेरी समझ में ऐसे दोहे निकाल दें तो अच्छा होगा। दोहों को शीघ्र आपके पास लौटा दूंगा।"[9] कहना न होगा कि वाजपेयी जी ने वे दोहे निकाल दिये। इन तीन सौ दोहों का प्रकाशन 'तरंगिणी' नाम से हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और लोक साहित्य के अध्येता रामनरेश त्रिपाठी ने 'हिन्दी मंदिर' से किया। ब्रजभाषा काव्य का जबर्दस्त विरोध करने वाले त्रिपाठी जी ने न केवल इसका प्रकाशन किया बल्कि इसके बारे में लिखा-

सरस तिहारे, दोहरे, सुकवि किशोरीदास
रस बरसत,मन बस करत, हरत हिए की प्यास

तरंगिणी के दोहों में भी राष्ट्र-प्रेम से भरे दोहे थे। कुछ दोहों की बानगी देखिए-

क्यों रोवत हिमगिरि इते, वृथा बहावत नीर
भारत के वै दिन गए, गए बाँकुरे वीर
नीको लागत गुलाम की, नहीं विलासी भेस
मिटे दुशासन जगत ते, सुरसे द्रौपदि-केस
गरम कहत या हिन्द कौ, जग के लोग हमेस
पै न गरम यह नेकहू, रहयो हाय यह देश

'तरंगिणी' के दोहों में न केवल राष्ट्र प्रेम था बल्कि चुटीला व तीखा व्यंग्य भी-

सब ते चोखे जगत में साधु और विजार
खुले चरै, पूजा लहैं, सरस सुछन्द विहार

लेकिन देव पुरस्कार की प्रतियोगिता में 'तरंगिणी को भेजने हेतु महावीर प्रसाद द्विवेदी और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने मना किया। द्विवेदी जी ने कहा- 'प्रतियोगिता में पुस्तक हर्गिज न भेजिएगा। बड़ी बेइज्जती होती है।' पर वाजपेयी जी के मन में था, दो हजार रुपये

आ जाएं तो बड़ा काम होगा। घोर आर्थिक कठिनाइयाँ उनके सामने मुंह बाए खड़ी थीं। कई बार तो अन्न के दाने तक न होते।

हुआ वही, जिसकी आशंका थी। वाजपेयी जी को यह पुरस्कार न मिल सका। पुरस्कार मिला एक बहुत साधारण कवि को जिनकी प्रमुख योग्यता टीकमगढ़ के राज्यमंत्री का रिश्तेदार होना था। टीकमगढ़ के राजा ने ही इस पुरस्कार की स्थापना की थी। पुरस्कार के निर्णायकों में वरिष्ठ कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने तरंगिणी के पक्ष में अपना पूरा जोर लगाया पर उनकी एक न चली। अखबारों में पुरस्कार का निर्णय छपा तो द्विवेदी जी बहुत दुःखी हुए। उन्होंने वाजपेयी जी को लिखा- 'मैंने आपको मना किया था कि प्रतियोगिता में तरंगिणी को न फंसाइएगा, परन्तु आप माने नहीं।' किशोरीदास जी अपनी आर्थिक कठिनाइयों का जिक्र कैसे करते।

हिन्दी के प्रति अपने बढ़ते लगाव और उसके उचित प्रचार-प्रसार की आकांक्षा के कारण वे सम्मेलन भी जुड़े। वाजपेयी जी इसके महाधिवेशनों और स्थाई समिति की बैठकों में भाग लेने प्रयाग पहुँचते रहे। इस दौरान सन् 1938-39 तक हिन्दी को लेकर लिखे गए वाजपेयी जी के बीसियों लेख हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे। किशोरीदास जी के इन लेखों ने लोगों का वैसा ध्यान खींचा जैसा एक समय बालमुकुन्द गुप्त और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखों ने किया था। इन दोनों ने अपने लेखों के जरिये भाषा परिष्कार के क्षेत्र में कालजयी काम किया था। वाजपेयी जी के लेखों ने उनके इस काम को और आगे बढ़ाया। पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख पढ़ आचार्य द्विवेदी ने विशेष प्रसन्नता व्यक्त की उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। हिन्दी हेतु किए गए उनके संघर्ष को वाजपेयी जी और गति दे रहे थे।

इस दौरान वाजपेयी जी के लेख न केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए बल्कि हिन्दी परिष्कार में स्थायित्व लाने के लिए उन्होंने पूरी एक पुस्तक ही लिखी- 'लेखन कला' जो 1940 में छपी। इसमें उन्होंने अशुद्ध शब्दों व शब्द प्रयोगों पर विचार किया। भाषा परिष्कार और भाषा परिष्कार में स्थायित्व को लेकर लिखी गई यह पहली पुस्तक थी। माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ. अमरनाथ झा, मैथिलीशरण गुप्त, सम्पूर्णानंद आदि ने इस पुस्तक को असाधारण रूप से उपयोगी बताया।

इस अवधि में वाजपेयी जी का जहाँ भाषा संबंधी चिंतन और काम जारी था वहीं दूसरी ओर नौकरी लगने और छूटने का क्रम भी वैसा ही बना हुआ था। नौकरियाँ लगती छूटती रहीं। लेकिन आर्थिक कठिनाइयों के ये थपेड़े उन्हें झुका न सके। इसी दौरान नौकरी छूटने का कारण बने एक घटना का यहाँ उल्लेख उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में सहायक है। सन् 1938 में हरिद्वार में कुंभ लगा। वाजपेयी जी ने कुम्भ में नागा साधुओं की दिगम्बर स्नान यात्रा का कड़ा विरोध किया। इसे लेकर जिला बोर्ड के अधिकारियों की उन्होंने तीखी आलोचना की, फलस्वरूप उन्हें स्कूल से बर्खास्त कर दिया गया। तब श्रीमती विजय लक्ष्मी संयुक्त प्रांत की स्वायत शासन मंत्री थीं। वाजपेयी जी अपनी बात को लेकर श्रीमती पंडित के पास गए। आगे क्या हुआ, यह उन्हीं की जुबानी सुनिए-

श्रीमती पंडित से मेरी बातचीत यों हुई-

'कहिए क्या बात है ?'

'मैं हरिद्वार म्यू. बोर्ड के हाई स्कूल में अध्यापक था। बोर्ड में साधुओं का तथा तीर्थों-पुरोहितों का जोर है। मैंने कुछ समाज सुधार के काम वहाँ किए, उससे वे लोग नाराज हो गए और मुझे नौकरी से अलग कर दिया।'

'तो आप समाज सुधार का काम करते हैं या बच्चों को पढ़ाते हैं?'

'बच्चों को तो पढ़ाता ही हूँ और इस काम में 99 प्रतिशत सफलता परीक्षा परिणाम बता देते हैं; पर अपने बचे समय का उपयोग मैं ट्यूशन आदि में न करके कुछ समाज-सुधार के कामों में लगाता हूँ।'

'आप समाज-सुधार के काम करते ही क्यों है? किसने कहा है?'

'आप ही लोग वैसा कहते हैं कि अध्यापकों को समाज-सुधार के कामों में मदद करनी चाहिए।'

'मैंने कब कहा है ?'

'आपने तो नहीं, पं. जवाहर लाल नेहरू ने तो सैकड़ों बार वैसा कहा है।'

'तो फिर उन्हीं के पास जाइए।'

'उनके पास ही पहुंचता, यदि वे प्रांत के स्वायत्त मंत्री होते।'

'अच्छा तो कहिये, क्या काम आपने समाज-सुधार के किए ?'

'हरिजन-अभ्युत्थान आदि के काम करता रहता हूँ और सबसे बड़ा काम पिछले हरिद्वार कुंभ मेले पर नागा साधुओं के बारे में आंदोलन कि वे एकदम दिगम्बर होकर न निकला करें, कम से कम एक लंगोटी तो जरूर लगाए रहा करें।'

'ऐसा आपने क्या समझकर किया ?'

'यह समझकर कि हमारी नागरिक व्यवस्था के विपरीत वैसा प्रदर्शन को लोग अच्छा नहीं समझते हैं।'

'आपने यह कैसे समझा कि नागा-साधुओं के उस प्रदर्शन को लोग अच्छा नहीं समझते ?'

अब मैं जल-भुन गया। पं. जवाहर लाल नेहरू की बहन ने यह कहा। मैंने आंखे नीचे कर लीं और अत्यंत गंभीरता से निवेदन किया- 'मैंने पुरुष वर्ग के तो सहस्त्रों व्यक्तियों से चर्चा की; सबने इससे असंतोष प्रकट किया। टंडन जी ने तथा नेहरू जी ने भी वैसा ही कहा, परन्तु मैंने स्त्रियों से नहीं पूछा कि वे उसे कैसा समझती हैं। हां, मेरी स्त्री तो वैसे प्रदर्शन को ठीक नहीं समझती है। इतना कहकर मैंने आंखें ऊपर कीं, तो देखा श्रीमती पंडित का गौरवर्ण बदन एक दम अरुण हो गया और आंखों में भी वही रंग। बोलीं- 'आपसे मेरी कतई सहानुभूति नहीं है और आपको हर्गिज बहाल न किया जायेगा।'[10] अब और कुछ बोलना

मैंने ठीक न समझा।' कुर्सी से उठा और हाथ जोड़कर नमस्ते करता हुआ दरवाजे बाहर चला गया।

हिन्दी के शिखर-पुरुष डॉ. रामविलास शर्मा इस घटना विवरण देने के बात कहते हैं 'कहिए, हैं न पं. किशोरीदास बाजपेयी अभिनन्दनीय।'

यही नहीं, ऐसे कई प्रसंग हैं जब घर में रोटी के लाले पड़े होते पर जरा भी स्वाभिमान आहत होता, नौकरी छोड़ देते। गलत वे बर्दाश्त कर ही न सकते थे। किशोरीदास जी के सामने केवल आर्थिक उलझने ही नहीं थीं। इन आर्थिक कठिनाइयों के अलावा उन्हें कई मानसिक आघातों का भी सामना करना पड़ा। किशोरीदास की पूरी जीवन कथा ही जीवन की मारों पर मारें खाने का उदाहरण है। बहुत पहले ही उनके प्रथम पुत्र की मृत्यु मात्र तीन वर्ष की उम्र में हो गई थी जिसका गहरा और मर्मांतक आघात उनके मन पर लगा था फलस्वरूप उन्होंने बीकानेर में जमी-जमाई नौकरी छोड़ दी थी और कुछ समय अशांत मन इधर-उधर भटकने के बाद वे 1929-30 में हरिद्वारमें अध्यापक हो गए। ये कुछ वर्ष उनके जीवन में बहुत ज्यादा आर्थिक व मानसिक आघातों के वर्ष थें। उन्हें इस दौर में न केवल पुत्र के निधन का आघात सहना पड़ा था बल्कि इसी के आसपास उनकी पुस्तक,'रस और अलंकार' के जब्त होने तथा बाद में 'सविनय अवज्ञा' और सत्याग्रह आंदोलनों में सक्रिय भाग लेने कारण उन्हें जो कुछ भुमतना पड़ा उसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

यहाँ इसी दौर की उनकी पुस्तक 'रस और अलंकार' के बारे में कुछ अतिरिक्त और विस्तार से चर्चा आवश्यक है। अनेक किताबें विभिन्न कारणों से सरकारी प्रतिबंध का शिकार हुई हैं लेकिन व्याकरण की किताब को जब्त किये जाने की कोई दूसरी मिसाल मैंन नहीं देखी। शायद विश्व इतिहास में भी व्याकरण की किताब को जब्त किये जाने इक्के-दुक्के उदाहरण ही हों।

'रस और अलंकार' की इस पुस्तक में श्रृंगार, वीभत्स, हास्य और भयानक जैसे रसों के उदाहरणों में भी प्रखर राजनीतिक चेतना मौजूद है। पूरी पुस्तक में ही किशोरीदास जी ने रस और अलंकार के जो उदाहरण गढ़े थे, वे देशभक्ति से ओत-प्रोत और अन्यायी व क्रूर अंग्रेज सरकार के खिलाफ गुस्सा पैदा करने वाले थे।

इस पुस्तक के कुछ उदाहरण देखिए। शुरूआत में अनुप्रास अलंकार के कुछ भेदों और उसके उदाहरणों की बानगी प्रस्तुत है-

छेकानुप्रासः-

जहां एक से अधिक व्यंजन वर्णों की स्वरूप और क्रम से, एक आवृत्ति हो- एक बार वह वर्णसमुदाय दुहराया जाय, वहां 'छेक' अनुप्रास होता है।

उदाहरण-

हनि 'गुण्डा-सरकार' मद, गांधी उदित-हुलास
तीर तोरि डारे सबै, काटि कँटीली पास

यहां 'तीर तोरि' तथा 'काटि कँटी' में दो-दो वर्णों की एक-एक बार स्वरूप और क्रम, दोनों तरह से आवृत्ति हुई है, अतएव उक्त छेकानुप्रास है। यदि स्वरूप से तो आवृत्ति हुई हो, किन्तु क्रम से न हो, क्रम बिगड़ जाय, तो फिर छेकानुप्रास न रहेगा। उदाहरण के लिए- 'रीते तीर सबै किए' में रीते के रेफ तकार की स्वरूपावृत्ति 'तीर- में अवश्य है; परन्तु उस क्रम से नहीं है- क्रम बदल गया है- तकार पहले आ गया है और रेफ बार में, इसलिए यहां छेकानुप्रास नहीं है। इसी प्रकार केवल एक वर्ण की आवृत्ति में भी यह अनुप्रास नहीं होता।

अन्त्यानुप्रासः-

आद्य स्वर और अंतिम अंश अनुसार विसर्ग अथवा स्वर के सहित, पाद अथवा पद के अन्त में व्यंजन की आवृत्ति हो? तो उसे 'अन्त्यानुप्रास' कहते हैं।

उदाहरण-

उठे कमर कसि जन प्रिय गाँधी,
उठी प्रबल सत्याग्रह-आँधी
दबकी झुकि सरकार बिचारी,
मनहुँ चोर गृहपतिहि निहारी।

पूर्वार्द्ध में अनुनासिक 'आँ' आया और 'ई' अन्तिम स्वर के सहित 'धकार' की आवृत्ति पाद के अन्त में हुई है, इसलिए एक अन्त्यानुप्रास हुआ। दूसरा उसके उत्तरार्द्ध में उसी प्रकार 'आरी' की आवृत्ति में है। हिन्दी तुकान्त छंदो में यह अवश्य होता है।

लाटानुप्रासः-

शब्द वे ही हों और उनाका अर्थ भी वही हो, पूर्व पुनरूक्ति हो, सिर्फ तात्पर्य में भेद हो- अन्वय में अन्तर हो तो लाटानुप्रास होता है।

उदाहरण-

स्वर्ग भी दुखमय नरक परतंत्र जनता के लिए।
है नरक भी स्वर्ग सम स्वाधीन जनता के लिए।

इस वाक्य में 'स्वर्ग' और 'नरक' श्ब्दों की पूर्ण पुनरूक्ति है- वे ही शब्द और वे ही अर्थ दुहराये गये हैं- परन्तु तात्पर्य में भेद है। अर्थात् अन्वय में अंतर है, पूर्वार्द्ध में 'स्वर्ग' और 'नरक; का जिस रूप् में वाक्य में अन्वय है। उत्तरार्ध में उससे भिन्न है। अब कुछ अंश वक्रोक्ति-भेदों के भी देखिए-

श्लेष वक्रोक्तिः-

एक शब्द के अनेक अर्थ निकलें, उसे श्लेष कहते हैं। श्लेष- सरेस चिपकना। एक शब्द में दो अर्थ चिपटे रहते हैं। इसलिए इस विषय को श्लेष करते हैं तो जहां श्लेष के द्वारा किसी के वाक्य का कुछ और ही अर्थ लगाया जाय, वहां श्लेष वक्रोक्ति होती है।

उदाहरणः-

कलेक्टर (किसानों से)- कर देना है धर्म्म तुम्हारा सोचो जागो।

किसान (कलेक्टर से)- अन्धे तो हो नहीं, भला फिर क्यों कर माँगों?

इस उदाहरण में 'कर' शब्द श्लिष्ट है- इसके दो अर्थ हैं-

1. टैक्स, भूमि का महसूल और 2. हाथ।

अकाल पड़ गया हैं खेतों में कुछ भी पैदा नहीं हुआ। इस दशा में किसान लोग लगान नहीं दे रहे हैं। कलेक्टर उन्हें समझाता है कि भाई, कर (लगान) चुका देना तुम्हारा कर्त्तव्य है। परन्तु, उसके इस वाक्य का श्रोता (किसान) लोगों दूसरा ही अर्थ लगाकर उत्तर दिया है। अन्धे आदमी सहारे से चलने के लिए, किसी दूसरे आदमी का हाथ माँगते हैं, जिसे वे पकड़कर चलते हैं। यों 'कर' का 'हाथ' अर्थ लगाकर किसान कहते हैं कि साहब, आप अन्धे तो नहीं हैं, फिर कैसे और क्यों 'कर' माँग रहे हैं ? उत्तर बहुत ठीक है। क्या साहब बहादुर की आँखें नहीं हैं ? भला ऐसे समय में 'कर' माँगना क्या उचित है ?

तो, इस प्रकार साहब की बात का दूसरा अर्थ किसानों ने किया; इस लिए 'वक्रोक्ति' हुई और वैसा उन्होंने 'कर' शब्द के श्लेष से किया, यह 'श्लेष-वक्रोक्ति' है।

काकु-वक्रोक्तिः-

गले की ध्वनि-विशेष का नाम 'काकु' है- "भिन्नकण्ठध्वनि धीरैः काकुरित्यभिधीयते।" काकु के कारण एकार्थक वाक्य का भी बिल्कुल भिन्न अर्थ हो जाता है। कहीं-कहीं बिल्कुल उल्टा-विधि का निषेध और निषेध का विधि-अर्थ हो जाता है। कहीं कुछ का कुछ और ही हो जाता है। इस 'काकु' के बल पर जहाँ दूसरे के वाक्य का अर्थ कुछ और ही लगाया जाय, वहाँ काकु-वक्रोक्ति होती है।

उदाहरणः-

कलेक्टर (किसान से)- 'क्या हम करें उपाय सभी कुछ अब दिखने को ?'

किसान (कलेक्टर से)- 'हा ! ऐसी मति हीन हुई क्यों , यों कहने को ?'

कलेक्टर कहता है कि 'हां, तुम लोग ऐसे हो गये हो ? यों जवाब देते हो ? क्या अब हम अपनी दमन-शलाका चलाकर तुम्हारी आँखें खोल दें जिससे तुम लोंगों को सब कुछ दिखने लगे कि हाकिम क्या होता है और रैय्यत क्या ?' परन्तु किसान इस वाक्य का अर्थ 'काकु' द्वारा बदलकर उत्तर देते हैं। वे अर्थ लगाते हैं कि साहब कर रहा है- 'अब हम (अपने को) सब कुछ दिखाई देने के लिए क्या उपाय करें ? ऐसा कौन सार उपाय किया जाये कि भला-बुरा सब कुछ नजर आने लगे ? बड़े कष्ट की बात है।' ऐसा अर्थ करके ही उन्होंने उत्तर दिया है। इस प्रकार 'काकु' के द्वारा अर्थ बदलने के कारण यह 'काकु-वक्रोक्ति' का उदाहरण हुआ।[11] इन अंशो को पूरा का पूरा उद्धरित करने का आशय यही है कि आप जान सकें कि पुस्तक छपते ही अंग्रेज सरकार कितना बौखला उठी थी और बिना विलम्ब किये इस पर तत्काल प्रतिबंध लगा दिया गया था।

किशोरीदास जी द्वारा इतनी नौकरियाँ करने और छोड़ने का प्रमुख कारण उनका उत्कट देशभक्त और स्वाभिमानी होना था। इतना कुछ झेलने और जीवन में तरह-तरह की परेशानियाँ उठाने के बावजूद वाजपेयी जी न केवल व्याकरण और भाषा संबंधी चिंतन कर रहे थे, बल्कि कुछ समय तक उन्होंने 'मराल' जैसे साहित्यिक पत्र का संपादन भी किया। 1939-40 के बीच प्रकाशित होने वाले इस मासिक पत्र में रमेशचंद्र एम. ए. के नाम से स्वयं किशोरीदास वाजपेयी स्तंभ भी लिखा करते थे। नमक मण्डी आगरा से प्रकाशित और किशोरीदारस वाजपेयी तथा श्याम सुन्दर लाल दीक्षित के संपादकत्व में प्रकाशित इस पत्र में अनेक महत्वपूर्ण रचनाओं का प्रकाशन हुआ।

वाजपेयी जी रुपये-पैसे की तंगी में होते फिर भी कई बार हाथ आती लक्ष्मी उनके स्वाभिमान और क्रोध का शिकार हो दूर चली जाती। ऐसे कई प्रसंग हैं जब घर में कुछ भी न होता पर जरा भी स्वाभिमान आहत होता रूठ कर चल देते या नौकरी छोड़ देते। कई बार यह रूठना ज्यादा देर का न होता। कभी इस बात पर नाराज हो गये कि विद्यार्थियों के लिए लकड़ी और भोजन की व्यवस्था ठीक नहीं है तो कभी इस बात पर कि मना करने के बात भी सुप्रिटिण्डेण्ट और प्रधान अध्यापिका छात्राओं सहित सिनेमा देखने चली गईं और बहुत देर रात गए लौटी। क्रोध चढ़ा, त्याग-पत्र सौंपा और वापस, पर विद्यार्थियों के मामले उनका गुस्सा देर तक न टिकता। वे स्वभाव से सरल थे। सुप्रिटिडेन्ट द्वारा अपने अपराध की बात कहने, उदास होकर बच्चियों के रात भर रोने और खाना तक न खाने की बात सुन अपने क्रोधी स्वभाव के कारण हिन्दी के इस आधुनिक दुर्वासा कहे जाने वाले किशोरीदास जी का क्रोध न जाने कहा हवा हो गया और वे पुनः काम पर वापस लौट आए।

किशोरीदास जी न केवल व्याकरण और भाषा विज्ञान संबंधी समस्याओं से जूझ रहे थे बल्कि वह साहित्य की अन्य विधाओं में भी सक्रिय थे। इसी दौरान उन्होंने अपना नाटक 'द्वापर की राज्य क्रांति' लिखा। (यह नाटक 'सुदामा' नाम से भी प्रकाशित है।)

इस नाटक में सुदामा के माध्यम से किशोरीदास जी ने एक तरह से अपनी ही कथा कही थी। बहुत बाद में इस नाटक का जिक्र करते हुए अमृतलाल नागर ने उचित ही इसमें वाजपेयी जी के आत्म परिचय की झलक देखी थी। किशोरीदास जी ने 'द्वापर की राज्य क्रांति में सुदामा द्वारा किसी दूसरी चीज को ही अपना 'धन' समझते हुये प्रसन्नता से निर्धनता का वरण करने की बात लिखी थी, जो अपने उच्च आदर्श की पूर्ति के लिए कण-कण की भिक्षा मांगकर खाने में भी गौरव का अनुभव करता है। नाटक का जिक्र नागर जी लिखते हैं- 'लो, यह हैं सुदामा, यह है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी । उन्होंने

वाजपेयी जी को 'कल्पवृक्षें के माली' की संज्ञा देते हुए इस नाटक के एक अंश को उद्धृत करते हुए लिखा- 'उनके 'सुदामा' नाटक में दरिद्र मित्र की नस-नस से परिचित कल्पवृक्ष के समान सबकी इच्छाएं पूरी करने वाले श्रीकृष्ण अपनी पत्नी से कहते हैं- "जिसे तुम दरिद्रता समझती हो, उसे वह सुख की चीज मानते हैं। कल्प वृक्ष का क्या दोष जब कोई कुछ इच्छा ही न करे। प्रिये, यह तो कल्पवृक्षों के माली है।"[12]

किशोरीदास जी भाषा विज्ञान और व्याकरण संबंधी बहुत सारी समस्याओं पर विचार कर रहे थे और उन्हें सुलझाने की कोशिश भी। इसी का नतीजा थी, सन् 1949 में लिखी गई उनकी किताब- 'ब्रज भाषा का व्याकरण' किताब की शुरूआत में लिखी भूमिका में उन्होंने उस समय के प्रचलित सभी व्याकरणों की खुलकर आलोचना की थी। व्याकरण के विद्वान और सुप्रसिद्ध पत्रकार अम्बिका प्रसाद वाजपेयीय ने पुस्तक की प्रशंसा की और इस किताब के भूमिका को 'व्याकरणों का व्याकरण' बतलाया। यद्यपि किशोरीदास जी ने 'ब्रजभाषा के त्याकरण' में अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के ग्रंथ की तीखी आलोचना की थी। उन्होंने पुस्तक की एक प्रति व्याकरण के सुप्रसिद्ध विद्वान पं. कामता प्रसाद गुरू को भी भेजी थी और उनसे सम्मति की इच्छा प्रकट की पर उन्होंने कोई उत्तर न दिया। यहां यह बताना आवश्यक है कि वाजपेयी जी ने भूमिका भाग में पं. कामता प्रसाद गुरू के ग्रंथ की भी आलोचना की थी।

पं. कामता प्रसाद गुरू और अम्बिका प्रसाद वाजपेयी हिन्दी का शुरूआती व्याकरण लिखने वाले लोगों में थे। इनके द्वारा लिखी गई व्याकरण की किताबें 'हिन्दी-व्याकरण' और हिन्दी कौमुदी' उस समय की व्याकरण संदर्भित श्रेष्ठ किताबें मानी जाती थीं लेकिन किशोरीदास जी को व्याकरण की ये दोनों किताबें दोष पूर्ण लगीं। उन्होंने लिखा- "सौभाग्य समझिये, चाहे दुर्भाग्य, इन व्याकरणों के मूलभूत सिद्धांत मेरी समझ में न आए। इन्ही के आधार पर वे सब पुस्तकें बनी थीं, जो पाठ्य रूप से परीक्षाओं में चल रही थीं और मुझे भी पढ़ानी पड़ती थी। कुछ समझ में न आने पर आकर ग्रंथ देखे, फिर भी समाधान न हुआ। 'गुरू' जी से (जबलपुर जाकर) दो बाद भेंट की; परन्तु फिर भी मेरा भ्रम संदेह दूर न हुआ ! अपनी जिज्ञासा-मान्यता पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराई। आचार्य द्विवेदी जी ने वह सब पढ़कर प्रसन्नता प्रकट की।" विचार मंजते गये, पक्के होते गये।"[13] शायद कामता प्रसाद गुरू को किशोरीदास वाजपेयी जी के लेख और भूमिका भाग में अपने किताब की आलोचना अच्छी न लगी थी। लेकिन अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ली को किताब पसंद आई और उन्होंने खुलकर इसकी तारीफ भी की थी। इसके अलावा अन्य कहीं से कोई प्रतिक्रिया नहीं मिली। किशोरीदास जी ने कहा- 'इसे चाहे उपेक्षा समझिये और चाहै 'मौनं सम्मति लक्षणम्।'[14]

लेकिन वाजपेयी जी को जीवन में आर्थिक तंगी और तरह-तरह की परेशानियों से छुटकारा मिलना मुश्किल था। सन् 1942-43 के दिनों में ही उनके बाएं हाथ में जबर्दस्त चोट लगी। इस कारण उन्हें तीन-चार महीने भीषण कष्ट उठाना पड़ा और उनका वह हाथ हमेशा के लिए कमजोर हो गया। बाद के दिनों में भी वह इस हाथ से ज्यादा वजन न उठा पाते थे।

भाषा को लेकर वाजपेयी अत्यंत चिंतित थे। काशी के विद्वानों ने हिन्दी को शुद्ध करने के लिए एक 'भाषा-संस्कार समिति' बनाई थी। इन विद्वानों ने जब संस्कार के नाम पर विकार हिन्दी में बढ़ाया तो किशोरीदास जी ने इसका निराकरण करने की लिए पूरी एक पुस्तक लिखी- 'अच्छी हिन्दी का नमूना' जिसके बारे में अपने एक लेख में रामधारी सिंह दिनकर ने कहा था- "जो नौजवान हिन्दी में गद्य या पद्य लिखने का अभ्यास कर रहे हों उन्हें अपने साथ दो पुस्तकें जो वाजपेयी जी किशोरीदास की लिखी हुई है- 'अच्छी हिन्दी' और 'अच्छी हिन्दी का नमूना' जरूर रखनी चाहिये और सिद्ध लेखकों की मेज पर भी ये ग्रंथ रहें तो उनका भी भला होगा।"[15]

सन् 1949 में कलकत्ता के जनवाणी प्रकाशन के अध्यक्ष हजारी लाल शर्मा के विशेष अनुरोध पर उन्होंने 'हिन्दी निरुक्त' तथा 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की नजरों से ये किताबें गुजरी तो उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित 'नया समाज' में इस पर एक लेख लिखा। लेख में पूरा जोर व्याकरण और निरुक्त पर ही था। डॉ.. अमरनाथ झा ने नागरी प्रचारिणी सभा को पत्र लिखा। उन्होंने 'नया समाज' में प्रकाशित राहुल जी के लेख की कतरन भी भेजी और सभा को वाजपेयी जी से व्याकरण लिखाने का सुझाव दिया। वाजपेयी जी वैसे भी तब तक अपने लेखों व किताबों के जरिये अपने भाषा संबंधी चिंतन के लिए विख्यात हो चुके थे। लेकिन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किशोरीदास जी के कालजयी ग्रंथ 'हिन्दी शब्दानुशासन' के प्रकाशन की कहानी के पहले कुछ दूसरी घटनाओं का उल्लेख यहाँ आवश्यक है जिससे एक ओर सरकारी अंधेरगर्दी का तो दूसरी ओर वाजपेयीय जी की दृढ़ता और साहस का परिचय मिलता है।

आजादी मिलने के बाद घटी ये घटनाएं हमारी स्वाधीनता के वास्तविक चेहरे की झांकी दिखाने में सक्षम हैं। किशोरीदास जी की किताब 'रस और अलंकार' गांधी भक्ति तथा उत्कट देशभक्ति वाले उदाहरणों के कारण जब्त हुई थी। स्वयं किशोरीदास कांग्रेस तथा गांधी जी द्वारा चलाए गए सविनय अवज्ञा व सत्याग्रह आंदोलन में गहरी सक्रियता दिखाने के कारण न केवल जेल गए बल्कि सरकारी नौकरी छूटने से लेकर उन्हें सामान की कुर्की और नीलामी तक सब कुछ झेलना पड़ा। अंग्रेज अधिकारी मि. ह्यूम ने इनके खिलाफ 'आस्तीन का साँप और जोरदार कांग्रेस वर्कर' जैसी तीखी शब्दावली का इस्तेमाल किया था। एक ओर सम्पूर्णानन्द जैसे राजनेता तो दूसरी ओर विख्यात भाषा विज्ञानी डॉ.. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या इनकी प्रतिभा के प्रंशसक थे। दृढ़ मार्क्सवादी डॉ.. रामविलास शर्मा ने जहां उनके भाषा

विज्ञान संबंधी दृष्टिकोण को पूँजीवादी भाषा विज्ञान की सीमाओं का उल्लंघन करने वाला और भारतीय रूढ़िवादी मान्यताओं का खंडन करने वाला माना तो साम्यवादी लेखक माने जाने वाले राहुल सांकृत्यायन और विख्यात सोवियत भाषा विज्ञानी बरखुदारोव ने उनके व्याकरण संबंधी चिंतन में भौतिकवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए उन्हें सर्वोच्च कोटि का वैयाकरण बताया।

हरिद्वार के नागा साधुओं के खिलाफ चलाए अपने आंदोलन के कारण नौकरी गंवाने वाले किशोरीदास जी के जीवन की इन घटनाओं और उनके संदर्भ में लोगों की मान्यता मैंने इसलिए याद दिलाई कि हिन्दू-महासभा व संघ से दूर-दूर तक भी कोई संबंध न रखने वाले किशोरीदास किसी खुराफाती व दुष्ट व्यक्ति के षड्यंत्र का शिकार हो गांधी हत्या के बाद देशभर में हुई हजारों गिरफ्तारियों में धर लिए गए।

किशोरीदास जी भी तो अपनी ही किस्म के अलग आदमी थे। जेल में रहकर मगर से वैर लेने में उन्हें जरा भी हिचक नहीं थी। आखिर नतीजा क्या होता ? दुष्टों और षड्यंत्रकारियों की कमी तो वैसे भी नहीं है। ऐसे ही किसी दुष्ट ने तो निराला जैसे महाकवि को भी कर्वी (बांदा जिले का एक कस्बा) के किसी गांव में चोरी का झूठा इल्जाम लगाकर फंसाना चाहा था और महाकवि कितने परेशान हुए थे। इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि वहां रहते हुए निराला का वजन 70 पाउंड तक घट गया था और झूठी शिकायत का लगातार मानसिक तनाव अलग। निराला की रचना 'काले कारनामे' की भाव-भूमि में यह घटना भी है। गांधी के सम्मान में लिखी कविताओं और उनके द्वारा चलाए गए आंदोलन में जेल जाकर अपना सब कुछ गंवाने वाले किशोरीदास वाजपेयी फिर जेल गए। क्या विरोधाभास था ? यह घटना संकट के समय में भी उनकी विनोदी वृत्ति और प्रखर बुद्धि का परिचय देती है।

इस पूरी घटना का विवरण किशोरीदास जी की जुबानी सुनिए- "मैं तो सभा और संघ कभी सदस्य न था। न ही इन दोनों संगठनों से दूर का ही कोई वास्ता था पर जेल में जो अभियोग पत्र मुझे मिला वह बड़ा विचित्र था। उसमें लिखा था- 'संघ का कार्य करता है। 'कार्यकर्ता' को कार्य करता है। पुलिस वालों ने हिन्दी में लिखा था। मैं इस बार जेल से कैसे छूटा वह बड़ा मनोरंजक किस्सा है, चार साढ़े चार महीने जेल में हो चुके थे। अन्याय संशोधन की उम्मीद बची न थी तब जिला मजिस्ट्रेट की मार्फत मैंने प्रदेश के मुख्यमंत्री के नाम एक लंबी चिट्ठी लिखी जिसमें अनशन की सूचना दी। जेल के रजिस्टर में चढ़कर वह चिट्ठी मजिस्ट्रेट के पास गई।

चिट्ठी में लिखा- "माननीय मुख्यमंत्री जी, मैं इस समय सहारनपुर जेल में पड़ा सड़ रहा हूँ, अकारण। काम मैंने जन्म भर वे ही किये, जो आपने किये परन्तु बाल-बच्चों को भूखा मरने की नौबत नहीं आई होगी। मेरे जैसे कांग्रेसियों के सामने यह भी आया। स्वराज्य है, आप शासक हैं, मैं जेल में हूँ। मेरा पत्र पाने के पंद्रह दिन बाद मुझे कोई जवाब न मिला तो सोलहवें दिन से मैं अनशन कर दूंगा।"

"सोलहवें दिन दोपहर को जब मैंने भोजन न लिया तो अफरातफरी मची। जेलर और जिला मजिस्ट्रेट ने फोन पर बातचीत की। जेलर मुझसे मिलने आए। उन्होंने कहा कि साहब (मजिस्ट्रेट) कह रहे हैं- जमानत-मुचलके दे दो, छोड़ दिये जाओगे। मैं कैसे यह बर्दाश्त करता? चिढ़ गया। वे बोले- फिलहाल जमानत मुचलके न दें, बाहर जाकर मुचलके-जमानत का प्रबंध करा दें, मैं मान गया। छूट गया।"

"जेल से छूटकर घर गया। आराम से रहने लगा। जेल-प्रवास में हिन्दी-शब्द-शास्त्र विषय पर जो सोचा-विचारा था, उसे कागज पर उतारने को ढाँचा बनाने लगा। इसी समय सप्ताह समाप्त हो गया। एक दिन जिला मजिस्ट्रेट का हुक्म या चेतावनी लेकर पुलिस का आदमी आ धमका। लिखा था- "एक सप्ताह समाप्त हो गया है। यदि तीन दिन के भीतर जमानत मुचलके न दिये, तो कानूनी कारवाई की जाएगी।"

मैंने कागज लेकर उसी कागज की पीठ पर यों लिखा- "महोदय, इस हुक्म पर मुझे इतना निवेदन करना है- कोई बुरा काम न मैंने किया है, न करने का इरादा है। जब वैसा काम करूँ तो पकड़वा लीजिएगा। इसलिए जमानत मुचलके की बात ठीक नहीं है। फिर भी यदि वैसा करना जरूरी आप समझें तो निवेदन है कि मैं जमानत मुचलके देने को तैयार नहीं हूँ। घर का प्रबंध कर दिया है- फिर छह मास जेल में रहने को तैयार हूँ परन्तु इस बार मैं हाई कोर्ट में हैवियेस कार्पस उपस्थित कराऊँगा, सम्भवतः हाई कोर्ट मुझे न छोड़े परन्तु फैसले यह लिखा जाएगा कि 'देश में एक जिला मजिस्ट्रेट ऐसा भी है जो कैदियों को पहले छोड़ देता है और बाद में जमानत मुचलके मांगता है। समझ सकते हैं।"

"कागज वापस गया और मामला हो गया दफ्तर दाखिल।"[16]

किशोरीदास जी से उलझना आसान न था। कई बार उनसे उलझने और उन्हें परेशान करने वालों की स्थिति उल्टे बांस बरेली की हो जाती। आजादी के बाद सरकार ने हिन्दी का आधारभूत व्याकरण तैयार करने के लिए एक व्याकरण समिति का गठन किया। समिति में किशोरीदास जी भी रखे गए। पैसों की तंगी थी ही, मन में यह भी था कि इससे हिन्दी और व्याकरण का भला हो सकेगा। यह जरूर था कि सरकारी काम होने की वजह से वह कुछ परेशान तथा आशंकाग्रस्त भी थे। यह परेशानी तथा आशंका निराधार भी न थी। कई लोगों ने उनके सिद्धांतों को अपना कह अपनी पुस्तकों तक में शामिलकर लिया था। किशोरीदास जी ऐसे लोगों की हरकतों से परेशान तो रहते थे पर वे इनसे निपटना भी खूब जानते थे। वाजपेयी जी ने ऐसे लोगों के चेहरे भी उधाड़े। उन्होंने लिखा- "मेरी पुस्तक निकलते ही उसकी तीन-चार सौ प्रतियाँ तुरन्त बिक जातीं और फिर सन्नाटा। ये प्रतियाँ प्रायः पुस्तक विक्रेताओं के मार्फत हिन्दी के बड़े-बड़े प्राध्यापक (प्रोफेसर) मंगाते हैं और घर में चुपचाप बैठकर पढ़ते हैं।" उन्होंने एक-तरह से शिक्षा पद्धति

की विडंबना पर इशारा करते हुए कहा- "ये ही लोग विविध परीक्षाओं के विधाता हैं। इनमें से कितने ही चोरी भी करते हैं- मेरी पुस्तकों के अंश चुराकर चुप-चाप रख लिए हैं, जिनमें बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के प्रतिष्ठित तथा पुराने प्राध्यापक भी हैं। इनमें से कई पकड़े भी गए हैं, जो अर्थदण्ड भुगतने तथा माफी मांगने पर ही छोड़े गए हैं। इसके लिखित माफीनामे हमारे पास हैं।.... किस-किसके पीछे दौड़ें, परन्तु जिसे पकड़ लिया, फिर वह छूट नहीं सकता।"[17]

यही वजह थी कि किशोरीदास जी ने समिति की बैठकों में भाग लेने की स्वीकृति देते हुए यह नोटिस भी रख लेने को कहा कि इस समिति के जरिये जो व्याकरण बनेगा उसमें यदि उनके द्वारा उद्भावित व्याकरण के मूल तत्व लिए गए तो रॉयल्टी पर उनका पूर्ण अधिकार होगा। यदि स्वतंत्र बहस-मुबाहिसे से व्याकरण बना तब कोई बात नहीं फिर वे सम्पूर्ण विचार-विमर्श में हिस्सा लेंगे।

किशोरीदास जी को इस समिति की असलियत समझते देर न लगी। बैठक में तत्व की बातें कम ही होती।। सदस्यों के खर्च की व्यवस्था सरकारी होने के बावजूद उनका खर्च महीनों तक नहीं आया। वाजपेयी जी ने रजिस्टर्ड नोटिस भिजवाई कि पन्द्रह दिनों में खर्चा न आया तो कानूनी कार्यवाही करेंगे और अदालती खर्च की जिम्मेदारी सरकार पर होगी। उन्होंने साथ ही व्याकरण समिति से त्यागपत्र देने की घोषणा भी की। नोटिस रंग लाई और सारा खर्च हफ्ते भर में आ गया, साथ में त्यागपत्र न देने का अनुरोध करते हुए तथा उनकी जरूरत बताते हुए सरकारी काम-काज होने के कारण देर होने का रोना रोया गया था किशोरीदास जी ने काम होने की शर्त पर समिति में बने रहने की बात लिखते हुए हिन्दी के काम के लिए ही अपने जीवन की बात कही।

समिति की अगली बैठक में भी कुछ न हुआ। वाजपेयी जी सरकारी काम-काज के इस रवैये से बहुत नाराज हुए और उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। आज के जमाने में जब लोग ऐसी समितियों में बने रहने के लिए दिन-रात एक किये रहते हैं; तरह-तरह की तिकड़में करते रहते हैं और उसमें बने रहने के लिये आकुल-व्याकुल दिखाई देते हैं; वाजपेयी जी का स्तीफा अनहोनी घटना ही थी, इस घटना ने महान कहे जाने वाले भाषा-विज्ञनियों के चेहरे की असलियत भी दिखाई। कुबेरदत्त ने इस घटना का विवरण देते हुए लिखा है- 'हिन्दी के विद्यार्थी डॉ. चाटुर्ज्या की प्रतिभा के कायल होते हैं पर इन्हीं चाटुर्ज्या मोशाय ने बहुत घृणित और अश्लील ढंग से वाजपेयी जी को कन्विन्स करना चाहा- "अरे वाजपेयी जी, मुफ्त का सैर सपाटा, गोष्ठियों का सुख है, सैकड़ों की बचत है, क्यों छोड़ रहे हैं।"[18]

वाजपेयी जी पर भाषा विज्ञानी डॉ. चाटुर्ज्या की बात का असर न हुआ। वे त्यागपत्र वापस न लेने के निर्णय पर अडिग रहे। समिति से वाजपेयजी जी के स्तीफे से खलबली मची। हिन्दी समाज में ऐसे काफी लोग थे जो वाजपेयी जी की प्रतिभा के कायल थे और चाहते थे कि उनका उपयोग हो सके। डा. अमरनाथ झा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष थे। उनके कहने पर सभा ने वाजपेयी जी से हिन्दी का प्रामाणिक आधारभूत व्याकरण लिखने का निवेदन किया। वाजपेयी जी दूध के जले हुए थे। उन्होंने अपनी कुछ शर्तें रखीं-

- व्याकरण की पुस्तक दो वर्ष में तैयार होगी। दो वर्ष तक डेढ़ सौ रुपये मासिक उन्हें मुहैया कराये जायेंगे।
- पुस्तक पर रॉयल्टी बीस प्रतिशत रहेगी।
- डेढ़ सौ रुपये उनकी रॉयल्टी से एक मुश्त नहीं धीरे-धीरे किश्तों में काटे जायेंगे।
- पुस्तक जैसी लिखी जायेगी, वैसे ही छपेगी। कुछ न कटेगा, न जुड़ेगा।

वाजपेयी जी ने दो वर्ष से पहले ही पुस्तक लिख डाली पर इसी बीच डॉ. अमरनाथ झा का निधन हो जाने के कारण पाण्डुलिपि बहुत दिनों तक यूं ही पड़ी रही। कई बार इस संदर्भ में पूछताछ करने के बाद जब उसे छापने का निर्णय लिया गया तब फिर वही शर्तें लादने की कोशिश की गई जिनको वाजपेयी जी ने मानने से इन्कार कर दिया था। जब किताब प्रेस में छपने जाने लगी तो उसके साथ कुछ नई शर्तें जोड़ दी गई जैसे- 1. भाषा सन्तुलित, शास्त्रोक्त, गंभीर हो। 2. अप्रासंगिक उक्तियां और मुहावरे न रखे जाएं। 3. व्याकरण शास्त्र का मेल भाषा के ऐतिहासिक विकास तथा भाषा विज्ञान से होना आवश्यक है। 4. वैयक्तिक संबंध नहीं आने चाहिये केवल सिद्धांतों का विवेचन विश्लेषण हो। इसके पूर्व व्याकरण को डबल डिमाई आकार में छः सौ पृष्ठों में छापने संस्कृत का अनिवार्य आधार लेकर आधुनिक पद्धति में लिखने व हिन्दी के मान्य व विशिष्ट लेखकों के ही उदाहरण रखने की शर्त वैसे ही रख दी गई थी।

वाजपेयी जी ने इस पूरी घटना विवरण देते हुए डॉ. रामविलास शर्मा को एक पत्र लिखा- "मैंने सभा" का कागज फाड़कर फेंक दिया और कह दिया कि भाषा मेरी जैसी है, वैसी ही रहेगी। "सभा" वालों को झुकना पड़ा, क्योंकि छत्तीस सौ रुपए पेशगी मैं ले चुका था और "सभा" से शर्तनामा लिखा लिया था; जिसमें एक शर्त यह भी थी- "लेखक जो कुछ भी जिस रूप में लिखेगा 'सभा' उसे ज्यों-का-त्यों रखकर प्रकाशित करेगी, उसमें कुछ भी परिवर्तन न किया जायेगा।" शर्त तो यह विषय-विवेचन को लेकर थी, पर मैंने भाषा पर भी मढ़ और यों मेरे शब्दानुशासन की भाषा बच गई।"[19]

निरन्तर आर्थिक संकट बने रहने पर भी दृढ़ता कायम रखना बहुत मुश्किल है। वाजपेयी जी की यह पुस्तक तो छपी पर इस पुस्तक के प्रकाशन के पीछे की यह कहानी कम लोगों को ही ज्ञात है। हमेशा आर्थिक तंगी से जूझते रहने वाले किशोरीदास जी के लिखने-पढ़ने पर भी पैसे की तंगी यह असर दिखता था। इस दौरान के आर्थिक स्थिति की झलक 26-7-54 को राहुल सांकृत्यायन को लिखे एक पत्र से प्रकट होती है जिसमें उन्होंने एक जरूरी पुस्तक के मंगाने के बारे में

जिक्र करते हुए लिखा- "बहुत दिनों से मंगाने की इच्छा थी, पर इतने भी पैसे न बचा पाया।"[20]

इतना सब कुछ होने और झेलने के बाद भी उन्होंने हिन्दी शब्दानुशासन जैसी अपूर्व और युगांतकारी कृति हिन्दी समाज को दी। ऐसी विख्यात किताब का इतनी मुश्किलों के बाद छप पाना हिन्दी समाज में संभव है। जहां पद, जोड़-तोड़ और शार्टकट के रास्तों से साहित्य और जीवन में आगे बढ़ने के रास्ते चुने जा रहे हों; प्रतिभाशाली और स्वाभिमानी पुरुषों को अपने मार्ग का अवरोध समझ उनके विरुद्ध निरंतर षड्यंत्र रचा जा रहा हो; वहां किशोरीदास वाजपेयी जैसे लोगों की उपेक्षा वैसे भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। वाजपेयी जी जैसी प्रतिभा किसी दूसरे देश में होती तो लोग उन्हें सर-आंखों पर बिठाते।

खैर ! 'हिन्दी शब्दानुशासन' प्रकाशित हुआ। भाषा-विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में आज भी इस पुस्तक का युगांतकारी महत्व है। मार्च 1959 के 'समालोचक' में डॉ. रामविलास शर्मा ने इसकी विस्तारपूर्वक समीक्षा की। (उनकी यही समीक्षा 'परम्परा का मूल्यांकन' में संकलित है। पुस्तक में इसका प्रकाशन काल 1959 दिया हुआ है।) किशोरीदास जी ने अपने इस ग्रंथ में सैकड़ों सालों से चली आ रही मान्यताओं को जबर्दस्त चुनौती दी और दृढ़तापूर्वक उनका खंडन किया। लोग कहते रहें कि हिन्दी संस्कृत की पुत्री है पर वाजपेयी जी ने इस धारणा को स्पष्टतः नकारते हुए 'हिन्दी शब्दानुशासन' की पूर्व पीठिका के पहले ही पृष्ठ पर कहा-"हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है, जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा वाल्मिकि या कालीदास आदि के काव्य ग्रंथों में हमें उपलब्ध है।"[21]

रामविलास शर्मा ने इस पर लिखते हुए यह उचित ही कहा कि "इस वाक्य को मोटे-मोटे अक्षरों में लिखकर हर कोश निर्माण कार्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा और साहित्य सम्मेलन की हर शाखा के दफ्तर और प्रत्येक विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में टांग देना चाहिए जिससे आए दिन हिन्दी को संस्कृत की पुत्री न घोषित किया जाय।"[22]

वाजपेयी जी ने हिन्दी-संस्कृत के संबंध पर विचार करते हुए लिखा- "'करोति' से करता है एकदम कैसे निकल पड़ेगा ? 'रामः करोति' की तरह 'सीता करोती' भी संस्कृत में चलता है; परन्तु हिन्दी में लड़का चलता है, करता है, खाता है' और 'लड़की चलती है, करती है, खाती है' होता है। कितना अन्तर ! यह ठीक है कि 'चल, खा, कर' शब्द संस्कृत के 'चल, खाद्, कृ से मिलते-जुलते हैं। परन्तु इस मेल-जोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति से चलता है' निकल पड़ा। दोनों की चाल एदम अलग-अलग है।"[23]

डॉ. रामविलास शर्मा ने वाजपेयी जी की तर्क-पद्धति की सराहना करते हुए कहा कि "पुत्री घोषित करने का कारण भाषा के शब्द भण्डार से भिन्न, उसके व्याकरण के महत्व को न पहचानना है। जब तक यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी व्याकरण की विशेषताओं। का मूल स्रोत संस्कृत व्याकरण है, तब तक शब्द साम्यके आधार पर हिन्दी को संस्कृत की पुत्री नहीं कहा जा सकता।"

किशोरीदास जी ने इस पर विचार करते हुए कहा कि "दोनों का पृथक और स्वतंत्र पद्धति पर विकास हुआ है; परन्तु हैं दोनों एक ही मूल भाषा की शाखाएँ। बहुत बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं ये, इतनी बड़ी कि तना कहीं दिखाई भी नहीं देता और इतना विस्तार कि कोई सहसा समझ नहीं पाता कि कहां से ये चली हैं।"[24]

डॉ. शर्मा ने वाजपेयी जी की इस धारणा का समर्थन करते हुए कहा कि इससे सिद्ध हुआ कि वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी के अनेक मूल तत्व अत्यंत प्राचीन हैं और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सीढ़ी के सहारे हम हिन्दी की प्रकृति तक नहीं पहुंच सकते।[25]

वाजपेयी जी ने अनेक उदाहरणों द्वारा संस्कृत से भिन्न हिन्दी की विशेषताओं का प्रतिपादन किया। रामविलास शर्मा ने इन विशेषताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन अपनी इस समीक्षा में किया। किशोरीदास जी ने कहा कि "हिन्दी की प्रवृत्ति अनुनासिक प्रधान है, संस्कृत की अनुस्वार प्रधान।"[26]

उन्होंने कहा कि "संस्कृत में विसर्गों के बिना काम ही नहीं चल सकता। वहां अनेक कारकों की अभिव्यक्ति विसर्गों के बल पर ही है। सो उच्चारण चाहे कुछ इधर-उधर भी हो गया हो; परन्तु विसर्ग की स्थिति ज्यों की त्यों है। हिन्दी के गठन में विसर्गों का कोई स्थान नहीं है।"[27] रामविलास जी ने कहा "शब्दानुशासन के प्रसंग में वाजपेयी जी ने हिन्दी के अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। हिन्दी अपने तथा संस्कृत के रूपान्तरित करके अपनाए हुए शब्दों में पुंविभक्ति लगाती है यथा, मीठा, पानी, कड़वा पत्ता, कसैला फल। इसी प्रकार दण्ड तत्सम रूप में दण्ड ही रहता है। किन्तु तदभव रूप में डंडा हो जाता है।[28] संस्कृत की धातुएँ हिन्दी में स्वारान्त हो गई हैं।[29] ऋ का प्रयोग संस्कृत में खूब है "परन्तु हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का गठन ऐसा है कि यहां 'ऋ' का एकान्त अभाव है।"[30] हिन्दी में विभक्ति हटाकर लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए। हिन्दी के सन्धि नियम समास नियम अपने हैं।" डॉ. शर्मा ने लिखा- "अनेक पुनरुत्थानवादियों के विपरीत वाजपेयी जी को इस बात पर जरा भी अफसोस नहीं है कि संस्कृत अब भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है। न वे इस कार्य में दात्तचित्त हैं कि उसे फिर राष्ट्रभाषा बनाया जाय। लेखक के निवेदन में उनका दावा है, निःसंदेह हिन्दी की पद्धति संस्कृत से भी अधिक कलात्मक तथा वैज्ञानिक है, यह आप स्वयं इस पुस्तक अध्ययन करके कहेंगे।"[31]

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी इस समीक्षा मे किशोरीदास वाजपेयी की स्थापनाओं का जबर्दस्त समर्थन किया। उन्होंने लिखा- "वाजपेयी जी भाषा को विकासमान समझते हैं; जनता के प्रयोग भाषा की मुख्य नियामक शक्ति है, उनका कहना है- जन प्रवाह ने जिस शब्द

को जैसा बना दिया है, वह वैसा बन गया।[32] ....जन प्रवाह को महत्व देने के कारण वे हिन्दी की प्रकृति को हिन्दी अन्य वैयाकरणों और भाषा विज्ञानियों की अपेक्षा ज्यादा पहचानते है। .... वे व्याकरण का महत्व मानते हैं और उसकी सीमाएँ भी पहचानते हैं। "व्याकरण का दर्पभंग पद प्रयोग के मार्ग में, जनता कर देती है। जब पाणिनी का प्रयोग भाषा में गतिरुद्ध होने के कारण नहीं चला तो हम पामर जनों चर्चा ही क्या !"[33] बीस-बीस करोड़ जनता के प्रवाह को नियम बनाकर कैसे कोई मोड़े।[34]

उन्होंने वाजपेयी जी की इस बात का जोरदार समर्थन किया कि हिन्दी ही नहीं सभी भाषाओं की अपनी प्रवृत्ति होती है। उसे कोई व्याकरण क्या महाव्याकरण भी नहीं बदल सकता। उन्होंने कहा- "वाजपेयी जी ने बार-बार हिन्दी की प्रकृति पर जोर दिया है। उसे स्वतंत्र भाषा मानकर उसकी विशेषताओं का अध्ययन किया है। सही वैज्ञानिक पद्धति भी यही है।"[35]

रामविलास जी ने किशोरीदास जी की इन मान्यताओं की पुष्टि करते हुए इसके मूल में उनके सामाजिक दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण माना। उन्होंने लिखा- "व्याकरण जैसे विषय पर भी पुस्तक लिखने में विवेचक का सामाजिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। यदि वह जनता को मूर्ख, शुद्ध भाषा को बिगाड़ने वाली , विद्वानों की भाषा का मूल स्रोत और स्वरचित व्याकरण को भाषा का नियामक माने तो वह कभी वैज्ञानिक पद्धति से इस विषय पर पुस्तक नहीं लिख सकता। वाजपेयी जी को हिन्दी के शब्दों से प्रेम है; वे उनके लिए कोश में दर्ज मृत इकाई न होकर जीते-जागते प्राणी हैं जिनका व्यवहार देखकर कभी वे विस्मय में पड़ जाते हैं, कभी स्वयं उनके साथ खेलने लगते हैं, परन्तु सदा ही उनकी गतिविधियों का अध्ययन करते रहते है, शब्द ही नहीं वर्णों की प्रकृति का उल्लेख वे यों करते मानों वे प्राणियों के समान विशेषताओं वाले हों। ह के साथ ह नहीं मिलता, स के साथ स मिल जाता है। क्यों ? 'स' की अपेक्षा ह जोरदार है असली बब्बर।"[36] वाजपेयी जी ने स्पष्ट कहा- 'काल की तरह देशभेद से भाषा भी बदलती है 'बहुत धीरे-धीरे' तथा लाखों-करोड़ों वर्ष अच्छी भाषा जीवित रहती है।'

किशोरीदास जी ने उर्दू के प्रचलित शब्दों को अपनाए जाने और भाषा में उनका व्यवहार करने के पक्ष में अपनी राय प्रकट की। उन्होंने कहा- "मेरी भाषा में असली, चीज, जरूर आदि विदेशी शब्द आते हैं। रम गए हैं। मैं इन्हें जबर्दस्ती निकालता नहीं।"[37] रामविलास जी ने वाजपेयी जी की इस नीति की प्रशंसा करते हुए कहा कि "बहुत से लेखक वास्तविक, वस्तु और आवश्यक के अभाव में भाषा को हिन्दी समझते ही नहीं।" किशोरीदास जी ने तो हिन्दी को अपनी बोलियों से भी शब्द लेने की बात कही। वे यह भली भांति जानते थे कि ऐसा न होने से हिन्दी के सहज विकास में बाधा होगी।

डॉ. रामविलास शर्मा की इस समीक्षा का विशेष महत्व है। रामविलास जी के पूर्व किसी अन्य ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' पर इतना खुलकर और विधिवत न लिखा था। यह जरूर है कि ग्रंथ के पहले संस्करण में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसकी भूमिका लिखी थी और उसकी तारीफ भी की, पर वह विधिवत समीक्षा न थी। राहुल सांकृत्यायन ने भी उनके व्यक्तित्व पर एक अपूर्व लेख लिखा था पर उनके भाषा-विज्ञान और व्याकरण संबंधी चिंतन पर इतनी स्पष्टता और गंभीरता से लिखा गया यह पहला लेख था।

इस लेख के छपने के एक ही वर्ष बाद सन् 1960 में डॉ.. रामविलास शर्मा की किताब 'भाषा और समाज' छपी। इसमें रामविलास जी की भाषा विज्ञान संबंधी धारणाएँ विस्तार से सामने आईं। इस पुस्तक में डॉ. शर्मा को भाषा विज्ञान संबंधी अपनी धारणाओं को स्थिर करने और आगे बढ़ाने में किशोरीदास जी स्थापनाओं से मदद मिली। इस पुस्तक ने किशोरीदास जी को आम पाठकों और विद्वजनों के बीच पहुंचने में मदद की। उन्होंने 'हिन्दी शब्दानुशासन' के दूसरे संस्करण में इसे स्वीकार भी किया- "विशेष रूप से मैं डॉ. रामविलास शर्मा को साधुवाद देता हूँ, जिनकी जोरदार कलम ने इसके प्रति वैसा आकर्षण पैदा कर दिया। मेरी इस कृति को यह सम्मान मिला की एक दबंग और सुविज्ञ 'डॉक्टर' ने मुझे भी चमका दिया। .... डॉ. रामविलास शर्मा का ग्रंथ 'भाषा और समाज' इस ग्रंथ के उद्धरणों से परिप्लुत है। डॉ. शर्मा के इस ग्रंथ को जिसने पढ़ा होगा, उसने हिन्दी शब्दानुशासन अवश्य प्राप्त किया होगा। यही कारण है कि इतनी जल्दी इक्कीस सौ प्रतियाँ विद्या रसिकों की मेजों पर पहुँच गईं। डॉ. शर्मा को इसलिए और भी अधिक सारस्वत श्रेय है कि इससे पहले कभी, किसी ने भी, किसी भी रूप में, मेरा नाम अपनी किसी भी कृति में नहीं लिया था। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन से पहले किसी ने मेरे बारे में, या मेरी साहित्य सेवा के बारे में, कुछ भी न लिखा था; यद्यपि मन नही मन मान सब गए थे। राहुल जी ने और फिर उसे ऊँचे उठने-बढ़ने में मदद दी। डॉ. रामविलास शर्मा ने। ....एक विशेष बात यह हुई कि डॉ. चाटुर्ज्या ने भी 'हिन्दी शब्दानुशासन' की प्रशंसा की, जो पहले हिन्दी को 'व्याकरणविहीन भाषा' कहा करते थे।"[38]

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में प्रभुत्वशाली साम्राज्यवादी विचारधारा को चुनौती देने मे वाजपेयी जी की इस किताब ने रामविलास जी की पर्याप्त मदद की। डॉ. रामविलास शर्मा ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में वाजपेयी जी स्पष्टता व दृढ़ता की तारीफ करते हुए कहा- "जहां ब्लूमफील्ड जैसे भाषा विज्ञानी फ्रांसीसी को लेटिन का आधुनिक रूप कहते हैं, जहां डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जैसे पारंगत भाषाविद् संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सीढ़ियों के बिना आधुनिक भाषाओं तक पहुंच नहीं पाते, वहां संस्कृत के पंडित होते हुए वाजपेयी जी का यह कहना कि हिन्दी संस्कृत की पुत्री नहीं है, बौद्धिक ईमानदारी की एक

अनुकरणीय मिसाल है। ईमानदारी के अलावा यह साहस का भी काम है, क्योंकि संस्कृत के प्रति श्रद्धा की होड़ में कोई भी हिन्दी की स्वतंत्र साथ मानने की ढिठाई नहीं कर सकता। इसलिए वाजपेयी जी की हिन्दी-संस्कृत सम्बन्धी स्थापना का अन्यतम महत्व है।"[39]

हिन्दी का संबंध किससे है ? वाजपेयी जी हिन्दी का संबंध खड़ी बोली क्षेत्र के किसी प्राचीन बोली से मानते हैं। वैदिक ऋषियों ने जिस भाषा का संस्कार किया था। उस मूल भाषा के जन गृहीत रूप को उन्होंने प्रथम अवस्था की प्राकृत कहा। दूसरी अवस्था की प्राकृतों को उन्होंने बहुत कुछ कृत्रिम रूप से हमारे सामने उपस्थित होने की बात कही। उन्होंने कहा- "हिन्दी ही नहीं, वर्तमान सभी भरतीय भाषाओं में 'राजा' का उच्चारण-लेखन संस्कृत के ही समान है; परन्तु प्राकृतों में इनका रूप 'राआ' है। दृ कहीं कोई राआ नहीं कहता। यदि राजा का रूप राआ कभी जनगृहीत हुआ होता, तो आज भी वह उसी रूप में चलता दिखाई देता; उल्टी गंगा पहाड़ पर न चढ़ती कि 'राआ' को फिर जनता 'राजा'" कर देती। 'राआ' बनाया हुआ रूप है। प्राकृत व्याकरणों में दी हुई विधि के अनुसार.. कर्णकटुता का तो कोई ठिकाना नहीं ! संस्कृत में तथा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में ऐसा कोई शब्द न मिलेगा, जिसके प्रारंभ में 'ण' हो। परन्तु प्राकृतों में णकरादि शब्दों की भरमार है ! यहाँ तक कि 'न' भी ण कर दिया गया है ! प्राकृत की तीसरी अवस्था के आरंभ (अपभ्रंश) में भी यह प्रवृत्ति कुछ- कुछ दिखाई देती है परन्तु अधिकतर उन साहित्यकारों की रचना में जो पांडित्य का गर्व रखते थे।"[40]

तो फिर क्या हिन्दी का संबंध प्राकृत की तीसरी अवस्था से होना चाहिए। वाजपेयी जी कहते हैं- "प्राकृत के दूसरी तथा तीसरी के जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है। इन सभी प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिगन्त है जिनमें कर्ता के अनुसार पुल्लिंग-स्त्रीलिंग में कोई रूप परिर्वतन नहीं होता। 'पिआ पुच्छई और माआ पुच्छई'। उभयत्र पुच्छई है। यह संस्कृत के पिता 'पृच्छति' माता पृच्छति की छाया है। हिन्दी में रूप् बदलता है- 'पिता पूछता है'- 'माता पूछती है' हिन्दी की यह विशेषता किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती। जिस (कुरु जनपद) के प्राकृत में यह बात थी, उसका कोई रूप हमारे सामने है नहीं। कई कड़ियां टूटी हैं। कुछ भी हो, साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं है जिनसे हिन्दी (खड़ी बोली) का उद्गम माना जा सके।"[41]

स्पष्ट है, वाजपेयी जी ने प्राकृतों को बनावटी कहा और साहित्यिक प्राकृत को संस्कृत के शब्द भंडार और उसके व्याकरण नियमों पर आधारित कहा। उनकी मान्यता थी कि हिन्दी की बहुत- सी मूल विशेषताएँ वैदिक ऋषियों द्वारा संस्कारित और जनगृहित रूप में प्रथम अवस्था की दूसरी अवस्था की प्राकृत साहित्य में प्राप्त प्रचलित अर्थ में गृहीत प्राकृत और तीसरी अवस्था की 'पिआ पुच्छई' 'माआ पुच्छई' वाली अपभ्रंश, इनमें से किसी से भी उत्पन्न नहीं है। वाजपेयी जी की यह स्थापना प्रचलित मान्यताओं के एकदम खिलाफ थी। अर्थात् जैसे हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं है, वैसे ही प्राकृत से भी नहीं हैं संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी समस्या का यह विवेचन वाजपेयी जी ने हवा में नहीं किया था। उन्होंने प्रचलित अवैज्ञानिक मान्यता का विराध करते हुए अपने तर्कयुक्त जांच और अनुसंधान के बाद यह स्थापना दी।

रामविलास शर्मा ने सच ही संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सुगम नसैनी को उठाकर एक ओर रख देने के वाजपेयी जी के काम को युगांतकारी महत्व का माना। उन्होंने उचित ही कहा- "जैसे हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्राकृतों से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।"[42] वाजपेयी जी ने कुरु जनपद की बोली से हिन्दी के संबंध के बारे में जो बात कही थी, उसका समर्थन करते हुए उन्होंने कहा- "उनकी यह स्थापना बिल्कुल सही है कि हिन्दी की ये विशेषताएँ कुरु जनपद की किसी प्राकृत में रही होंगी। यहाँ प्राकृत से तात्पर्य णकार बहुला साहित्यिक प्रकृत से नहीं है। तात्पर्य है, खड़ी बोली क्षेत्र के प्राचीन साधारण जनों की भाषा से। यह भाषा कितनी प्राचीन थी ? कम से कम वह उस समय बोलचाल की भाषा जरूर थी, जब साहित्य में संस्कृत का व्यवहार साधारण नियम था।"[43]

वाजपेयी जी अपने इन नतीजों पर आसानी से न पहुंचे थे। यह उनके वर्षों के चिंतन का प्रतिफल था। वाजपेयी जी के बारे में यह सही ही कहा गया था कि जो व्यक्ति रात-दिन इस चिन्ता में लगा रहे कि बहत्तर में सत्तर का हत्तर हुआ, किन्तु सत्तर या सत्रह में स का ह न हुआ, या संस्कृत में जब "जाता है, जाती है" नहीं है, तो यह प्रयोग हिन्दी में कहां से आ गया ? वह व्यवहार कुशल हो ही नहीं सकता। उनकी भाषा संबंधी निरंतर उधेड़बुन का पता 18-11-64 को भगवत शरण उपाध्याय को लिखे इस पत्र से प्रकट होता है, जिसमें वे प्राकृतों के कृत्रिम होने के आखिरी नतीजे पर पहुंचे।

वाजपेयी जी ने कुछ समय तक नागरी प्रचारिणी समा के हिन्दी शब्द-सागर विभाग में भी काम किया था। वहां एक सज्जन डॉ. हेमचंद्र जोशी भी थे। वाजपेयी जी ने प्राकृत के कृत्रिम होने के अपने नतीजे पर पहुंचने के बारे में उपाध्याय जी को लिखा- 'वे प्राकृत में कैसे निष्णात् हैं, इसका भी निदर्शन है।' "सभा" में मै "नैहर" की व्युत्पत्ति कर रहा था तो संस्कृत 'ज्ञाति' (बन्धु-बान्धव का अर्थ देने वाला) शब्द ध्यान में आया। 'ज' का लोप होकर "नाती" झ "नाइ"। घर झ हर। ना$इ = नै। नै$हर = 'नैहर' । अपनी व्युत्पत्ति की पुष्टि के लिए मैंने पूछा- जोशी जी, प्राकृत में कोई 'नाइ' या 'नाई' शब्द भी है क्या? बोले- 'नहीं'। मैंने कहा- जरूर होगा; नहीं तौ नैहर कैसे बना ? उन्होंने फिर निषेध किया और अपने सहयोगी पं. शालिग्राम उपाध्याय से कहा- "पाइय सद्धमहण्णव" देखो। उपाध्याय ने देखकर कहा कि 'नाइ' या 'नाई' नहीं है। तब मैंने कहा कि इस कोश में 'नाइ' या 'नाई' नहीं है, तो यह कोश ही गलत है। लोग हंसने लगे। तब मैंने वह कोश उठा लिया। उसमें

धकारादि शब्दों के अंत में टिप्पणी देखी- 'न' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के लिए णकारादि-शब्द देखिये।" मैंने देखा, लिखा मिला- णाइ (ढ सं. ज्ञाति) बन्धु-बान्धव आदि।

मैंने कहा- यह 'नाइ' मिल गाया। बोले- 'नाइ' कहाँ ? यह तो णाइ है। इस पर मैंने कहा कि 'नाइ' असली प्राकृत है। अन्यथा- "नैहर" की जगह णैहर बोलते। इस पर वे फिर हंसे। यहीं मेरा निश्चय हुआ कि शब्दों के आदि में 'ण' करने वाली प्राकृत कृत्रिम है। संसार की कोई भी भाषा किसी शब्द के आदि में 'ण' नहीं रखती !"

अब हेमचंद्र जोशी का जिक्र चला है तो एक प्रसंग और प्रस्तुत है। जोशी जी से वाजपेयी जी की नोंक-झोंक पुरानी थी। जोशी जी जर्मन से डाक्टर होकर लौटे थे। उन्होंने 'वीणा' में प्रकाशित अपने एक लेख में हिन्दी-संस्कृत की काव्य-पद्धति की काफी तीखी आलोचना करते हुए उसे बासी, फालतू, गयी बीती तथा रस, अलंकार आदि को वाहियात बताया था। वाजपेयी जी ने उसका तगड़ा जवाब "माधुरी" में लिखा जिससे जोशी जी तिलमिलाकर रह गए पर कुछ न कर सके।

हिन्दी शब्द सागर का परिवर्द्धन तथा संशोधन का काम डॉ. हेमचंद्र जोशी की अध्यक्षता में हो रहा था। नागरी प्रचारिणी सभा ने वाजपेयी जी को भी लिखा। हिन्दी शब्दानुशासन की पाण्डुलिपि वहीं थी। वाजपेयी जी ने सोचा- वहां रहने इसका प्रकाशन शीघ्र हो सकेगा। उन्होंने हामी भर दी। जोशी जी के अधीन आठ-दस तरूण विद्वान भी थे, एम. ए. साहित्याचार्य आदि। जोशी वाजपेयी जी को भी अपना मातहत समझने की गलती कर बैठे। उन्होंने अपने आस-पास बिठाना तो दूर की बात, दो-तीन युवा विद्वानों के बीच कुर्सी लगवा दी। जोशी जी स्वयं एक बड़े हॉल में आपने पूरे मंडल के साथ बैठते थे। वाजपेयी जी ज्यों बैठे, उन्होंने कहा- "हम काम के समय काम चाहते हैं। इधर-उधर की बातें किसी को न करनी होंगी। साफ जाहिर था कि यह बात बाजपेयी को लक्ष्य करके कही गयी थी। वाजपेयी जी यह सुनकर भीतर ही भीतर आवेशित हो उठे पर उन्होंने कहा कुछ नहीं। वहां सेचले गये। थेड़ी देर बाद पुनः वापस आने पर जोशी जी से बोले- मैंने कोश की स्लिपें कभी देखी नहीं, एक स्लिप देखने को दीजिए "जोशी जी बोले- 'आप बनाकर लाइण्, बतला दूंगा।' अब वाजपेयी जी से न रहा गया क्रोध में वे फट पड़े। बोले- यानी पट्टी लिखकर लाऊँ, उसे आप ठीक करेंगे?'

वह कुछ बोल न सके पर जोशी जी की जलन अभी गई न थी। वाजपेयी जी के कहने पर उनकी व्यवस्था अलग कर दी गई लेकिन आग भतर ही भीतर अब भी सुलग रही थी। एक दिन वाजपेयी जी अपनी स्लिपें दराज में रखकर खाना खाने चले गए। वापस आए तो स्लिपें गायब थीं। पूछने पर चपरासी ने बताया कि 'साहब ने मंगाई हैं।' वाजपेयी जी को गुस्सा आ गया। वे गरजे- 'कौन साहब ?' ऊँची आवाज और तेज आवाज सुनकर हेमचन्द्र स्वयं बोले- 'मैंने मंगाई थी।'

'क्यों मंगाई थीं ?'

जोशी जी बोले- 'इंचार्ज हूँ इस विभाग का

वाजपेयी जी ने कहा- 'आप इंचार्ज नहीं, असभ्य हैं, चोर हैं। इस बीच स्लिपें वापस आ गई पर उन्होंने उसे उठाकर फाड़कर फेंक दिया। उनका क्रोध सातवें आसमान पर था। उन्होंने स्तीफा लिखा। डॉ. जोशी के पास गए और सधे स्वरों में उनसे कहा- 'तुम्हें मार पड़ेगी।'

जोशी जी घबरा गए और पुलिस में जाने की बात सोचने लगे। लोगों बीच-बचाव कर किसी तरह मामला सुलझाया पर वाजपेयी जी त्यागपत्र देने का निर्णय कर चुके थे। बहुत मान-मनौव्वल के बाद वह मान गए यह सोचकर कि उनके रहते-रहते किसी तरह 'हिन्दी शब्दानुशासन' छप जाए।

'हिन्दी शब्दानुशासन' की अनेक स्थापनाओं के पीछे उनकी वर्षों की मेहनत है। अब 'ने' विभक्ति को ही लीजिए। इसके पाछे वे वर्षों तक जुझते और चिंतन करते रहे। व स्वयं ही कहते हैं- "सन् 1920 में 'ने' विभक्ति से उलझन शुरू हुई थी। उसे करण कारक की विभक्ति बनाकर व्याकरणों का 'राम ने रोटी खाई' को कर्तृ वाच्य बतलाना मेरी उलढन का कारण बना।"[44] ब्रजभाषा तथा अवधी आदि में 'ने' नहीं है। मैया मोहिं दाऊ बहु खिझायो' आप देखते हैं पर राष्ट्रभाषा 'ने' के बिना न चलेगी। 'ने' विभक्ति के अभाव में कभी-कभी भूतकाल की कर्मवाच्य क्रियाएँ झमेला पैदा कर सकती हैं। 'मरम वचन सीता तब बोला' में देखिए। 'सीता' के आगे 'ने' विभक्ति है नहीं, जो बतलाती कि कर्मवाच्य क्रिया है- 'वचन' के अनुसार पुल्लिंग। लोग 'सीता'-'बोला- के चक्कर में पड़ जाते हैं। कर्तृ वाच्य 'बोला' समझ लेते हैं।[45]

कोई स्पष्टता न होने के कारण गैर हिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने और समझने में परेशानी होती थी। वाजपेयी जी कहते हैं- "इस'ने' विभक्ति से अहिन्दीभाषी जन बहुत झंझट में पड़ते थे, क्योंकि 'राम रोटी खाता है' तथा 'राम ने रोटी खाई' एक ही पद्धति की क्रियाएँ समझी जाती थीं। हिन्दी व्याकरणों में इन दोनों को ही 'कतृ वाच्य लिखा रहता था! तब लोग चक्कर में पड़ते थे कि एक जगह कर्ता ('राम') के साथ पुल्लिंग क्रिया खाता, है और दूसरी जगह 'खाई', यह क्या बात ?"[46] यह समस्या केवल किशोरादास के ही सामने न थी धीरेन्द्र वर्मा जैसे भाषा विज्ञानी और डॉ.. अमरनाथ झा जैसे विद्वान भी इस पहेली को समझने में असमर्थ थे। वाजपेयी जी इस संबंधमें अपने चिंतन क्रम का विवरण देते हुए कहते हैं- "सन् 1919 से 1942-43 तक जो विचार इस विषय पर मैंने किया, उससे वस्तु स्थिति बहुत स्पष्ट होगई। सन् 1947 से 1950 तक तो और भी अधिक स्पष्ट विचार सामने आए और 'ने' हिन्दी में प्रकृत रूप सबने समझा तिल की ओट पहाड़ था। यह 'ने' हिन्दी में प्राकृत के सि रूप् से आई है, पता नहीं चलता! परन्तु आई तो प्राकृत की ही किसी धारा से है, इसमें संदेह नहीं। साधारण अपढ़ जनता संस्कृत से प्रभावित हो सकती है ! प्राकृत का वह ('ने' वाला) रूप निश्चय ही खड़ी बोली के क्षेत्र में कुरुजनपद

में (उत्तरप्रदेश के मेरठ डिविजन में) जनगृहीत रहा होगा। अन्यथा वहां 'ने' कैसे कूद पड़ती। और कहीं क्यों न कूद पड़ी ? संस्कृत के गढ़ काशी- क्षेत्र में वह क्यों न अवतरित हो गई ? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में कदाचित संस्कृत भी कृदन्त-प्रधान ही कभी चलती हो! महाकवि राजशेखर ने लिखा है-'कृत्प्रयोगरूचय। उदीच्याः'! यानी उत्तर भारत के लोग (उत्तर प्रदेश के उत्तरी-पश्चिम क्षेत्र के) कृदन्त क्रियाएं बहुत पसंद करते हैं। राजशेखर ने संस्कृत प्रयोग के संबंध यमें यह निर्देश किया है। इसका मतलब यह भी हो समता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा हो और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगे। यह संभव है कि संस्कृत नहीं, उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में उनकी कलम से वैसा निकला हो, यद्यपि संस्कृत ग्रंथ में वे वैसा कह रहे हैं। उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जन-व्यवहार में मदद दे रही थी। सन्त गोरख की वाणी में 'खड़ी बोली' का आभास मिलता है और राजशेखर का समय भी प्रायः यही पड़ता है। प्रचलित प्राकृतों के 'पुत्तेहि' जैसे प्रयोगों के 'हि' से 'ने' निकालना समझ में नहीं आता।"[47]

वाजपेयी जी के निष्कर्ष कितने क्रांतिकारी हैं। उनका यह अनुमान कि इस क्षेत्र के संस्कृत विद्वानो पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा है लीक पर चलने वाले पंडितों के लिए कष्टकर है। संस्कृत पर लोक प्रचलित भाषा का प्रभाव भला कैसे पड़ सकता है?

दूसरे के मत का प्रत्याख्यान कर अपने मत की तर्कयुक्त जांच के बाद निष्कर्ष देना वाजपेयी जी की विशेषता है। 'ने' के बारे में चर्चा करते हुए वे कहते हैं- 'ने' विभक्ति का प्रयोग अन्यत्र कहीं भी नहीं होता- न किसी अन्य कारक में और न कर्ता की ही अन्य स्थिति में ! बहुत नपी-तुली स्थिति स्पष्ट है। राम ने काम किया।

पर फिर वाजपेयी जी कहते हैं- "परन्तु एक जगह सकर्मक क्रिया का भूत काल में ऐसा प्रयोग मिला है जहाँ 'कर्ता' में 'ने' विभक्ति नहीं लगती और वह क्रिया गत्यर्थक भी नहीं है। राम पुस्तक लाया, लडकी फल लाई। 'लाना' क्रिया सकर्मक है, गत्यर्थक भी नहीं है और भूतकाल भी है परन्तु फिर भी कर्ता 'ने' विभक्ति से रहित है। यह क्या बात ! वह नियम कहाँ गया ?"[48] वाजपेयी जी कहते हैं कि "भाषा के प्रवाज में बहते-बहते कई संश्लिष्ट शब्द विश्लिष्ट हो जाते हैं और कई विश्लिष्ट संश्लिष्ट होकर चलते हैं। यह अपने आप होता है- किसी व्याकरणकार के नियम से या राजाज्ञा से नहीं। 'लाना' संयुक्त किया है। 'ले' तथा 'आ' धातुओं का अलक्षित संश्लेष हो गया है- सन्धि हो गई है। 'लेकर आना और 'लाना' एक ही चीज है। 'ले' आगे 'आ' धातु आई। इस धातु में एक विशेषता है। संस्कृत के 'आ- उपसर्ग को हिन्दी ने धातु के रूप में ग्रहण कर लिया है ....'आ' को जब हिन्दी ने धातु बनाकर ले लिया, तो 'नित्य धातूपसर्गयोः की सन्धि इसे न भूली ! संस्कृत में उपसर्ग का पूर्व प्रयोग होता है, परन्तु यहाँ संस्कृत नहीं, हिन्दी है और वह उपसर्ग (भले ही भूतपूर्व सही)। सन्धि में धातु का स्वर उड़ गया और 'ल्' 'आ- में जा मिला- 'ला' एक संयुक्त धातु बन गई, ऐसी कि हजारों वर्षों तक किसी का ध्या नही उधर न गया कि ये दो मिलकर एक हैं। ... ला धातु संयुक्त है, अंत में आ है। प्रायः अन्तिम शब्द के अनुसार भाषा में चलन होता है और यहाँ गत्यर्थक 'आ' अन्त में है। तब उसी के अनुसार शब्द-प्रयोग होगा। इसलिए भूतकाल में कर्ता 'ने' विभक्ति से रहित होकर आता है।"[49]

यह विवेचन और विश्लेषण पद्धति यह स्पष्ट करती है कि वाजपेयी जी विषय में कितनी गहराई तक पैठते हैं। वाजपेयी जी के पास अपने सुस्पष्ट तर्क व विषय में गहरे पैठने की क्षमता तो थी ही साथ ही उनकी विश्लेषण पद्धति भी औरों से अलग हटकर थी। व्याकरण संबंधी ये उलझने वर्षों से चली आ रही थीं पर इन्हें सुलझाना वाजपेयी जी जैसे महावैयाकरण की क्षमता थी। किशोरीदास जी बिना किसी सुविधा के और दूभर स्तिति में अपना जीवन गुजारते हुए यह सब कुछ कर सके तो इसके पीछे उनकी हिन्दी के प्रति अगाध निष्ठा ही थी।

वाजपेयी जी ने न केवल 'ने' संबंधी इस उलझन को सुलझाया बल्कि 'हिन्दी शब्दानुशासन' में प्रस्तुत की गई अनेक स्थापनाओं ने शताब्दियों से चली आ रही अनेक मान्यताओं की नींव हिला दी थी। उनकी इन स्थापनाओं से भाषा विज्ञान और व्याकरण संबंधी विवेचन को एक नया आधार और दृष्टिकोण मिला।

'हिन्दी शब्दानुशासन' की स्थापनाओं ने अनेक मान्यताओं को एक सिरे से ध्वस्त कर दिया था। हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रंशसा की पर कुछ ऐसे लोग भी थे जो वाजपेयी जी से खार खाए बैठे थे। इन्हीं में एक थे डॉ. आर्येन्द्र शर्मा जो वाजपेयी जी के साथ हिन्दी व्याकरण समिति में भी रह चुके थे। वे 'कात्यायन' नाम से हैदराबाद से प्रकाशित 'कल्पना' में 'बेचारी हिन्दी' नाम का स्तंभ लिखा करते थे। उन्होंने लिखा- "हिन्दी शब्दानुशासन" में वाजपेयी जी ने लिख दिया है कि संस्कृत में भी 'लृ' स्वर का प्रयोग किसी भी शब्द (धातु, प्रतिपादिक, क्रियापद वगैरह) में नहीं हुआ है, जो कि गलत है। संस्कृत में 'क्लृप' धातु है जिसमें 'लृ' का प्रयोग हुआ है।" वाजपेयी जी स्वभाव से बहुत विनोद प्रिय भी थे। संस्कृत का साधारण ज्ञाता भी यह जनता है कि 'क्लृप' जैसी कोई धातु नहीं है, कृप् धातु है। उन्होने दैलिक हिन्दुस्तान में एक समाचार दिया- "पाणिनी को भी जो न पता था वह हैदराबाद के डॉ. आर्येन्द्र शर्मा जानते हैं और उनकी इस सफलता पर किशोरीदास वाजपेयी ने उन्हें तार भेजकर बधाई दी है।" यह समाचार प्रमुखता से 'बाक्स' में छपा।

आर्येन्द्र शर्मा भी आसानी से समझ जाने वाले जीव न थे। वाजपेयी जी के साथ रहकर भी वे यह न समझ पाए थे कि उनसे उलझना अपनी मिट्टी पलीद कराना है। आर्येन्द्र शर्मा ने कहा "चूंकि मैंने वाजपेयी जी की भूल बताई तो उन्होंने मरा मजाक उड़ाया। मैंने कहा था कि संस्कृत में 'क्लृप' में लृ स्वर है।" अब बात वाजपेयी जी के बर्दाश्त के बाहर थी। उन्होंने अपने पक्ष में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अध्यक्ष

को खड़ा कर दिया। साथ ही वाजपेयी जी ने पाणिनी का सूत्र- 'ऋदुपधीच्चाक्लृपिचितेः प्रस्तुत कर दिया। सूत्र में पाणिनी क्लृप (क्लृपि) को ऋतुपध माना है अर्थात् 'क्लृप' को 'ऋ' से माना है 'लृ' से नहीं। प्रयोग में 'र' जैसा अंश 'ल' जैसा हो जाता है। यह पूरा विवाद दैनिक हिन्दुस्तान में छपा। वाजपेयी जी से उलझने का दुष्परिणाम आर्येन्द्र शर्मा को भोगना पड़ा। 'कल्पना' पत्रिका में उनका वह कॉलम बंद हो गया। वाजपेयी जी से उलझना टेढ़ी खीर थी। इसमें मुंह की खाने के अलावा और कोई चारा ही न था।

'हिन्दी शब्दानुशासन' के प्रकाशन में वाजपेयी जी को बहुत परेशानी उठानी पड़ी थी। नागरी प्रचारिणी सभा की तरह-तरह की बंदिशें थीं, सो अलग। वाजपेयी जी के मन में सभा का यह निर्देशन खटक रहा था कि केवल अपनी बात कही जाये, किसी का खंडन न हो। यद्यपि उन्होंने अपनी ओर से 'हिन्दी शब्दानुशासन' के परिशिष्ट खंड में नामी भाषा-विज्ञानी और वैयाकरण माने जाने वाले लोगों के ग्रंथों के नमूने देकर उनकी पोल खोल दी थी। उन्होंने इस खंड में अनेक सम्मानित भाषा-वैज्ञानिकों की तीखी आलोचना की थी, जिनमें डॉ. चाटुज्या और उदयनारायण तिवारी जैसे लोग भी थे। यहां यह बता देना आवश्यक है कि जिन आर्येन्द्र शर्मा को वाजपेयी जी ने धूल चटाई थी, वह डॉ. चाटुर्ज्या के ही शिष्य थे।

वाजपेयी जी की भाषा-विज्ञान संबंधी हिन्दी में उपलब्ध ग्रंथों से असंतोष था। उन्होंने अपना असंतोष प्रकट करते हुए कहा भी कि- "हमें भाषा-विज्ञान के हिन्दी-ग्रंथों से बहुत अधिक असंतोष है- हमारा बहुत अधिक मत-भेद है। परन्तु वह सब इस परिशिष्ट में न दिया जायेगा- दिया ही नहीं जा सकता ! इसके लिए तो एक स्वतंत्र भाषा विज्ञान का ग्रंथ लिखा जाना चाहिए। हिन्दी में अभी तक जितने भी भाषा- विज्ञान के ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, सब मे प्रायः पिष्ट-पेषण ही है। स्वतंत्र मौलिक चिंतन नजर नहीं आता।"[50]

वाजपेयी जी की इस बात से कई लोग क्षुब्ध हुए। उन्होंने कहा- अगर ऐसा ही है तो वाजपेयी क्यों नहीं लिखते ? किशोरीदास जी को यह बात चुभ गई। उन्होंने चह चुनौती स्वीकार की। इसी का परिणाम है कि 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसी मूल्यवान कृति हिन्दी समाज को मिल सकी। वाजपेयी जी के इस ग्रंथ की भी शानदार भूमिका राहुल सांकृत्यायन ने लिखी। उन्होंने लिखा- "आचार्य वाजपेयी हिन्दी के व्याकरण और विज्ञान पर असाधारण अधिकार रखते हैं। वे मानों इन्हीं दोनों विधाओं के लिए पैदा हुए हैं। यद्यपि कुछ मजबूरियों के कारण वे अपना सम्पूर्ण इस विषय का ज्ञान यहाँ नहीं दे सके पर जो दिया है वह बहुत बड़ी चीज है और आशा रखनी चाहिए कि वृहत-भारतीय भाषा विज्ञान भी सामने आएगा।"[51]

आर्थिक विपन्नता और अभावग्रस्त जीवन जैसे वाजपेयी जी के जीवन की नियति थे। प्रतिकूल परिस्थितियों और निरंतर संघर्षरत जीवन के बावजूद किशोरीदास जी ने 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसी एक और दुर्लभ महत्वपूर्ण कृति हिन्दी को दी। घोर गरीबी की बाधा भी उनके संकल्प को डिगा न सकी। आमदनी बहुत कम होने के बावजूद वे कैसे किसी तरह अपने परिवार की गाड़ी खींच रहे थे, इसका पता उनके समकालीनों के संस्मरणों से ज्ञात होता है। आजीविका के लिए निरंतर संघर्षरत और प्रतिकूल परिस्थितियों के चक्रव्यूह में फंसे वाजपेयी जी का बहुत सारा समय तो इससे संघर्ष करने में ही चला जाता।

इस निरंतर अभावग्रस्त जीवन ने वाजपेयी जी को स्थिर होकर और डटकर काम करने में हमेशा बाधा पहुंचाई। राहुल सांकृत्यायन ने वाजपेयी जी के संघर्षमय जीवन को लक्षित कर इसी भूमिका में लिखा है- "शब्द सभी के कानों में पड़ते हैं पर उनके तत्व को समझने वाले सभी के कान नहीं होते। मेरा बस चलता, तो वाजपेयी को अर्थ चिन्ता से मुक्त करके, उन्हें सभी हिन्दी (आर्य भाषा वाले) क्षेत्रों में शब्द संचय और विश्लेषण के लिए छोड़ देता उन कोई निर्बन्ध (कार्य की मात्रा का) न रखता।"[52] राहुल जी कहा- "इसमें शक नहीं कि ये अध्याय स्वयं एक-एक ग्रंथ के विषय हैं जिन्हें लिखने का आधार वाजपेयी जी रखते हैं पर आज की परिस्थिति उन्हें ऐसा अवसर देगी, इसमें संदेह है।"[53]

'भारतीय भाषा विज्ञान' भी 'हिन्दी शब्दानुशासन' की ही तरह अपने मौलिक निष्कर्षों और क्रांतिकारी स्थापनाओं की दृष्टि से बेजोड़ है। इसमें किशोरीदास जी ने भाषा विज्ञान की कई जटिल गुत्थियों को सुलझाते हुए अपने मौलिक निष्कर्षों से भाषा विज्ञान संबंधी अपने मौलिक निष्कर्ष दिए। वाजपेयी जी के इन क्रांतिकारी निष्कर्षों से भाषा विज्ञान संबंधी अनेक समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त मदद मिली। लोग यह मानते थे सबसे प्राचीन रचना वेद है। भाषा की शुरुआत ऋग्वेद से ही है। वाजपेयी जी ने इस धारणा का सिरे से खंडन करते हुए कहा- "वेदों की भाषा का प्रकृत रूप क्या था; यह जानने के लिए निराधार कल्पना की जरूरत नहीं। वेदों की जो भाषा है, उससे मिलती-जुलती ही वह 'प्राकृत भाषा होगी, जिसे हम भारतीय मूल भाषा कह सकते हैं।"[54]

वह भारतीय मूल भाषा कौन सी है ? क्या वह वेदों के रचना के समय के आस-पास की है या उससे पहले की है ? किशोरीदास जी दृढ़तापूर्वक यह स्थापना प्रस्तुत करते हैं कि "जब वेदों की रचना हुई, उससे पहले ही भाषा का वैसा पूर्ण विकास हो चुका होगा। तभी तो वेद जैसे साहित्य को वह वहन कर सकी। भाषा के इस विकास में कितना समय लगा होगा। फिर, वेद-जैसा उत्कृष्ट साहित्य तो देखिए !"[55] वाजपेयी जी यह बात जोर देकर और स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि वेदों की रचना के पहले ही भाषा का पूर्ण विकास हो चुका था। यह एक क्रांतिकारी स्थापना थी। वेदों की रचना के पहले भी साहित्य रचा गया था, यह कहना ही पर्याप्त साहस की मांग करता है पर वाजपेयी जी ने स्पष्टतः कहा- 'ऐसा उत्कृष्ट साहित्य क्या तुरन्त बन गया होगा ? क्या उस मूल भाषा या 'पहली प्राकृत' की पहली रचना ही वेद है ? संभव

नहीं ! इससे पहले छोटा-मोटा और हल्का-भारी न जाने कितना साहित्य बना होगा, तब वेदों का नम्बर आया होगा। वह सब काल-कवलित हो गया ! वेद सुस्थिर हैं।

वेदों की रचना के समय त कवह मूल भाषा पूरी तरह विकसित हो चुकी होगी और देश-भेद या प्रदेश-भेद से उसके रूप-भेद भी हो गए होंगे। उन प्रादेशिक भेदों में से जो कुछ साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुका होगा, उसी में वेदों की रचना हुई होगीं परन्तु अन्य प्रादेशिक रूपों के भी शब्द-प्रयोग गृहीत हुए होंगे। सभी साहित्यिक भाषाओं की यही स्थिति है।"[56]

वेद अचानक प्रकट नहीं हुए बल्कि उसके पहले जनभाषा की एक लम्बी परम्परा रही है। वेदों की रचना के समय पूरी तरह विकसित हो चुके उस मूल भाषा के देश-भेद या प्रदेश-भेद से उसके रूप-भेद भी हो गए होंगे। क्या इनमें परिवर्तन हुआ होगा ? वाजपेयी जी कहते हैं- "साहित्यिक भाषा में जनभाषा की अपेक्षा कम परिवर्तन होते हैं क्योकि यह नियमबद्ध होती है। यह निमबद्ध इसलिए होती है कि जो कुछ साहित्य में दिया जाए, उसे दूर तक आगे लोग प्राप्त करते रहें। यदि साहित्यिक भाषा में भी जनभाषा की तरह अधिक परिवर्तन हों, तो साहित्य का लाभ लोग बहुत दूर तक न उठा सकें। परन्तु तो भी परिवर्तन होता ही है। वेद-भाषा को प्रथम संस्कृत कहा है। आगे चलकर संस्कृत का वह रूप आया, जिसमें ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषद् ग्रंथ लिखे गए। इसे हम द्वितीय संस्कृत कह सकते हैं। तीसरी संस्कृत वह है, जिसमें अश्वशोष और कालिदास आदि के ग्रंथ मिलते हैं। बस, संस्कृत का यह रूप स्थिर हो गया, क्योंकि पाणिनी के व्याकरण का कड़ाई से अनुगमन किया गया।"[57]

साहित्यिक भाषा में (संस्कृत मे) यह परिवर्तन किससे प्रभावित हुआ होगा ? वाजपेयी जी इस संदर्भ में अपना मत रखते हुए कहते हैं- "साहित्यिक भाषा में ('संस्कृत में') यह परिवर्तन उस प्राकृत भाषा से प्रभावित होने के कारण हुआ होगा, जो वैदिक संस्कृत के समानान्तर जनता में व्यवहार का माध्यम थी। यानी 'प्रथम प्रकृत' जनता की बोली के रूप में बराबर चल रही थी, जिसके रूप में परिवर्तन भी हो रहा था। 'ब्राह्मण' तथा उपनिषद् ग्रन्थों की रचना जिस समय हुई, उस समय की जन-भाषा के रूप का प्रभाव उन साहित्यकारों पर जरूर पड़ा होगा। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत से इस 'द्वितीय संस्कृत' में उतना अन्तर पड़ गया।

'तीसरी संस्कृत' अपने समय की प्राकृत से प्रभावित हुई होगी। इससे आगे की प्राकृत', इतनी भिन्न-रूप हो गई कि संस्कृत से एकदम दूर हो गई।"[58] वाजपेयी जी की स्पष्ट धारणा थी कि जनता में ही भाषा-विकास होता है। उन्होंने भाषा के विकास में अर्थ-विकास को भी महत्वपूर्ण चीज माना। भाषा के विकास में शब्द तथा अर्थ दोनों का विकास होता है। कभी-कभी शब्द विकास भर होता है, अर्थ ज्यों का त्यों रहता है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी अर्थ-विस्तार पर चर्चा करते हुए उसे उलझनों परे बताया। उन्होंने कहा- "हिन्दी ने अर्थ-विस्तार कई दृष्टियों से किया है, जिनमें असन्दिग्धता-सम्पादन मुख्य है। संस्कृत में 'पच' धातु का अर्थ पचना भी है और पकना भी। मूल अर्थ 'पकाना' है और इसलिए यह सकर्मक है- 'रामः ओदनम् पचति'- राम भात पकाता है। परन्तु इसी धातु का 'कर्म-कर्तृ' प्रयोग करके 'पचना' अर्थ भी लिया जाता है- 'भोजन। प्रायो यामद्वयेन पच्यते नीरुजस्य' नीरोग आदममी का भेजन प्रायः छह घण्टे में पच जाता है। संस्कृत में 'पच' का ही प्रयोग है; एक जगह 'कर्तरि' और अन्यत्र कर्म-कर्तरि।"[59]

इसका मतलब यह कि संस्कृत में झमेला तो है पर क्या यह परेशानी हिन्दी में भी है?

किशोरीदास कहते हैं- "परन्तु हिन्दी ने ऐसा झमेला नहीं रखा और अर्थानुरूप शब्द में कुछ परिवर्तन कर दिया। 'पच' का जो मूल अर्थ (कर्तृ वाच्य में) संस्कृत से रखा है, उस अर्थ में हिन्दी ने उसे 'पका' करके लिया है।"[60] इन परिवर्तनों पर विचार करते वह कहते हैं- "इसी तरह शतशः शब्द परिवर्तन हुए हैं; केवल स्पष्टता के लिए। अर्थ-विस्तार हुआ ही है 'पचना' और बात है, 'पकाना' और। 'पकना' का 'कर्म-कर्तृ' 'पकना' है- 'दाल पक रही है। इस तरह सब स्पष्ट है।"[61]

शब्दों का विकास कैसे होता है ? वाजपेयी जी शब्द का विकास दो क्षेत्रों में मानते है। 1- जनता तथा 2- साहित्य। वे 'जनता तथा साहित्य' पर विचार करते हुए कहते हैं- "जनता में जिन शब्दों का विकास होता है, वे सर्व-ग्राह्य हो जाते हैं। कुछ शब्दों का विकास साहित्य मात्र में होता है। इन दोनों विकासों वही अन्तर है, जो डाल में पके तथा पाल में पकाए आमों में, परन्तु यदि पकाने योग्य अवस्था आमों की न हो, या पकाने की विधि में गड़बड़ी हो जाए और आम पकने की जगह सूख या सड़ जाए नीरस या विरस हो जाए, तो इसे विकास न कह कर विकार कहेंगे। 'कर्ण' का विकास जनता में 'कान' के रूप में हुआ और राजा कर्ण का 'करन'। यह स्वाभाविक विकास है। साहित्य में 'श्रवण' का विकास 'स्रौन' हुआ- स्रौननि कुंडल'। कान तो साहित्य ने भी यथा-स्थान ग्रहण कर लिया, पर जनता ने स्रौन नहीं अपनाया। फिर भी, साहित्य में, अवधी में तथा ब्रजभाषा साहित्य में 'स्रौन- चलता है। यह 'स्रौन' पाल में पकाया आम है। .... परन्तु यदि कोई साहित्यकार संस्कृत के श्रुति शब्द को स्रुति या सुरूति करके लिखे, तो यह विकार या सड़ी-गली चीज होगी। यह क्यों ? इसलिए कि 'स्रुति' का प्रयोग परिस्राव के अर्थ में भी है- तत्सम 'सुरुति' भी भ्रामक है।"[62]

संस्कृत का पण्डित होने और कुछ वैसा रहन-सहन होने के कारण कई लोग आम तौर पर उन्हें सनातनी पण्डित ही मान बैठते थे लेकिन ऐसे लोग उनके व्याकरण और भाषा विज्ञान संबंधी स्थापनाओं से परिचित न थे। ऐसे लोगों को इस बात की भी जानकारी नहीं थी कि आजादी की लड़ाई में वाजपेयी जी ने कितनी सक्रिय हिस्सेदारी निभाई

थी। कोई सनातनी पण्डित यह बात कहने का जीवन भर साहस न कर पाता कि भाषा की रचना ईश्वर ने नहीं की पर किशोरीदास जी साफ कहते हैं- "कैसे भाषा बन गई। क्या भगवान ने भाषा बना दी ? कुछ लोगों का ऐसा ही विश्वास रहा है। ठीक भी है। जब कोई चीज समझ में नहीं आती, तब और कहा भी क्या जाय। परन्तु भगवान ने भाषा कैसे मनुष्य को दी? क्या वे सबको सिखा गए ? तब फिर सम्पूर्ण संसार की भाषा एक ही क्यों नहीं ?"[63]

वाजपेयी जी निष्कर्ष निकालते हुए भाषा को मनुष्य की बनाई चीज मानते हैं। शब्द क्या है ? क्या शब्द ईश्वर के मुंह से निःसृत है ? शब्द ही ब्रह्म है या और कुछ वाजपेयी जी कहते हैं- "'शब्द' एक प्राकृतिक पदार्थ है। मनुष्य ने अनेक प्राकृतिक पदार्थों को अपने काम में लिया है, उसी तरह शब्द को भी लिया है।"[64] क्या यह बात कोई संस्कृत का पण्डित कहने की हिम्मत जुटा पाता कि- "'वेदों' में 'गाथा' छन्दों की भाषा कुछ वैसी ही है। ज्यों की त्यों उस समय की जन भाषा। देहाती भाषा कहिए।"[65]

संस्कृत के पण्डितों की बात तो जाने दीजिए, 'मार्डन' भाषा विज्ञानी भी यह बात आसानी से हजम नहीं कर सकते। डॉ.. रामविलास शर्मा ने सच ही लिखा है- "वैदिक भाषा से भिन्न यहाँ एक या अनेक आर्य भाषाएँ थीं, यह उनके लिए कल्पनातीत है, वैदिक भाषा से पहले भी यहाँ कोई प्राचीनतर आर्य भाषा थी, ऐसा सोचने का पाप न तो प्राचीनता प्रेमी भारतीय पण्डितों न किया, न आधुनिकता प्रेमी पाश्चात्य विद्वानों ने। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के विकास के लिए आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की स्थापनाओं का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।"[66]

किशोरीदास जी कहते हैं कि "भाषा प्रसार में राजसत्ता भी काम करती है।" पर साथ ही वह यह भी कहते हैं- "जब कोई भाषा किसी दूसरी भाषा से प्रभावित होती है, तब भी अपना स्वरूप नष्ट नहीं करती, अपने मूल तत्व नहीं बदलती। ये मूल तत्व क्या हैं ? ये मूल तत्व हैं- क्रिया-पद, सर्वनाम, अव्यय, और प्रत्यय विभक्तियाँ; ये चार मुख्य तत्व हैं जो किसी भी भाषा का रूप निष्पादित करते हैं।"[67] वाजपेयी ने भाषा के इन मुख्य तत्वों को 'हिन्दी शब्दानुशासन' में उसका मूलधन कहा था और इन्हें चार मुख्य स्तम्भ बताया था। जिन पर किसी भी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व टिका रहता है। ये शब्द कभी बदलते नहीं, कभी भी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नहीं लेती। वाजपेयी जी यह भी कहते हैं कि "कहीं भाषा का उद्भव और विकास पहले हुआ, कहीं बाद में। ये भाषाएँ एक-दूसरे से प्रभावित भी होती रही हैं, आज भी होती हैं ! शासन या व्यापार आदि के कारण विभिन्न जातियों का परस्पर मेल हो जाता है और तब एक की भाषा के शब्द दूसरे से मिल जाते हैं। इस तरह से भाषाएँ परतः किंचित प्रभावित होती है।"[68]

वाजपेयी जी भाषा की गति और विकास की प्रक्रिया से बहुत गहराई तक परिचित थे। वे हिन्दी का विकास समझने के लिए जनभाषा के रूपों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता पर बल देते हैं। वे कहते हैं- "'पाली' में 'इध' है और संस्कृत में 'इह' है। ऐसा जान पड़ता है कि मूल भाषा में 'इध' ही था। संस्कृत में 'ध' के 'द' अंश का लोप करके 'इह'। हिन्दी ने कदाचित् दोनों से काम लिया है। ...हिन्दी का 'इधर' पाली के 'इध' से जान पड़ता है।"[69]

वैदिक युग और लोकभाषा पर चर्चा करते हुए किशोरीदास जी ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सूक्त का जिक्र करते हैं जो भाषा संबंधी ही है। इसमें भाषा पर ही विचार है। इसका उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं- कहा गया है कि "कोई भाषा जब विकसित होकर परिपक्व हो जाती है, तब उसमें स्थायी साहित्य की रचना होती है और साहित्यिक जन उस भाषा की शब्दराशि छानकर अपने काम लायक सार शब्द ग्रहण कर लेता है; शेष दूर रखता है। ऐसी परिष्कृत भाषा में ही साहित्य श्री अधिष्ठित हो सकती है और दूसरे साहित्यिक ही ठीक-ठीक समझ सकते हैं सहृद जन ही वैसा साहित्य हृदयंगम कर सकते हैं। ... वह मंत्र ही लीजिए-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृतः।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्बिहिताधिताधि।

साधारण जन जैसे चालनी से सत्तुओं को छानकर साफ करते हैं और चोकर फेंक कर सार काम में लाते हैं; उसी तरह विद्वान साहित्यकार अपने मनन विवेक के द्वारा भाषा को परिष्कृत करके अपने काम में लाते हैं। अर्थात् असार और भोंड़े शब्द वे छोड़ देते हैं, सुश्लिष्ट-गंभीर शब्द ग्रहण कर लेते हैं। वे फिर ऐसी वाणी में जो कुछ देते हैं उसे उनके समान ही जन समझ कर ग्रहण करते हैं क्योंकि उनकी उस वाणी में बहुत ऊँचे दर्जे की साहित्य श्री (लक्ष्मी) निहित रहती है।"[70]

इसमें अच्छी तरह जनभाषा और उसके साहित्यिक रूप को समझाया गया है। वाजपेयी जी इस मंत्र में आए 'तितउना' शब्द की चर्चा करते हुए कहते हैं- "कोई-कोई इस मंत्र में आए 'तितउ' को 'अनार्य भाषा' से आया हुआ शब्द कहते हैं क्योंकि इसकी बनावट संस्कृत से मेल नहीं खाती। संस्कृत में दो स्वर आनन्तर्य्य से एक जगह नहीं रह सकते; हों भी, तो सन्धि होकर एक हो जाएंगे। परन्तु 'तितउ' में दो स्वर अलग-अलग हैं- दूसरे वर्ण 'त' में अन्त्य 'अ' और सके आगे 'उ' साथ-साथ आनन्तर्य से हैं। बीच में कोई व्यंजन नहीं है। संस्कृत में ऐसे शब्द नहीं मिलते। इसलिए यह किसी अनार्य-भाषा का शब्द है। यह विचार प्रकट किया गया है।"[71]

वाजपेयी जी फिर इस पर अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि "हमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं, साहिन्य में परकीय भाषा का भी कहीं कोई शब्द आ ही जाता है। परन्तु शब्द की बनावट मात्र से कल्पना जोरदार नहीं, सबल नहीं कही जा सकती। सन्धि के जो नियम आगे चलकर संस्कृत में बने, उस आद्य संस्कृत (वेदभाषा) में वैसे नहीं हैं। वेद-भाषा में सन्धि अनिवार्य नहीं ऐच्छिक है। आज भी हम देखते हैं कि हिन्दी की बोलियों 'करहु' 'करउ' 'करौ' और 'करो' ये चार रूप एक ही

शब्द के चल रहे हैं।... इसी तरह वैदिक युग की जन-भाषाओं में चलन संभव है। सन्धि आदि के अनवार्य नियम वेद-भाषा में नहीं हैं। हो सकता है कि 'तितउः' का मूल रूप 'तित्तुः' जैसा भी कुछ चलता हो और उसी का रूपान्तर 'तितउः' भी जन प्रचलित हो। सत्तुओं का उदाहरण है, जिसके मेल में ग्राम्य शब्द 'तितउ' ले लिया गया होगा। छन्द बनाने के लिए भी रूपान्तर का ग्रहण संभव है। पूरबी बोलियों में आज भी (बच्चा के प्रादेशिक रूप) 'बच्चू' और 'बचउ' दोनो चलते है। और 'लल्लू' के साथ 'ललऊ' भी। वैदिक युग की जनभाषा में भी यही स्थिति होगी। इसलिए किसी अनार्य-भाषा से 'तितउ' शब्द केवल बनावट के आधार पर ही बतलाना वैसा साधार नहीं है।"[72]

'भारतीय भाषा विज्ञान' तथा 'हिन्दी शब्दानुशासन' की चर्चा के चक्कर में उनकी एक अन्य प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी-निरुक्त' की बात तो छूट ही गई। 'हिन्दी-निरुक्त' इन दोनों पुस्तकों के पहले सन् 1949 में जनवाणी प्रकाशन ने निकाला था। पुस्तक की भूमिका में किशोरीदास जी ने व्याकरण और भाषा-विज्ञान के उन आधुनिक आचार्यों की खूब खबर ली थी जो व्याकरण और भाषा विज्ञान का उदय यूरोप में ही मानते हैं। ऐसे लोग हमारी प्राचीनतम व्याकरण-परम्परा की समृद्ध और शानदार विरासत को झुठलाकर सब कुछ यूरोप में ही देखने वाली दृष्टि के अनुगामी हैं। वाजपेयी जी ने भाषा विज्ञान और व्याकरण के ऐसे 'आधुनिक' आचार्यों की तीखी आलोचना करते हुए 'हिन्दी-निरुक्त' की भूमिका में कहा था- "निरुक्त या निर्वचन शास्त्र उस विद्या का मूल है, जो आजकल 'भाषा-विज्ञान' के नाम से प्रसिद्ध है। इस विद्या का उन्मेष, संसार में सर्वप्रथम इसी देश भारतवर्ष में हुआ; पाणिनी से भी पहले ! .... महर्षि यास्क ने जो निरुक्त लिखा, उसमें उन्होंने अपने से पूर्व कितने ही सुप्रसिद्ध निरुक्तकारों के नामों का तथा उनके मतों का उल्लेख किया है। इसी से इस देश में निरुक्त-शास्त्र की प्राचीनता का अनुमान कर सकते हैं। उन निरुक्ताचार्य्यों ने निर्वचन की जो पद्धति तथा विभाग कल्पना निर्धारित कर दी थी, आज का भाषा विज्ञान उसी पर चक्कर काट रहा है। फिर भी इस देश के अनेक आधुनिक 'आचार्य' लोगों ने लिख दिया है कि भाषा विज्ञान का उदय सर्वप्रथम यूरोप में हुआ !"[73]

'हिन्दी-निरुक्त' हिन्दी-निर्वचन-शास्त्र की अपने ढंग की पहली पुस्तक थी। इस विषय की आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए आज भी यह सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। वाजपेयी जी के मन में शुरू से यह साध थी कि वे हिन्दी-निर्वचन-शास्त्र पर जमकर काम कर सकें और हिन्दी को निर्वचमात्मक कोश दे सकें पर समय की मार ने उन्हें यह काम कर न करने दिया यद्यपि 'हिन्दी-निरुक्त' के रूप में उन्होंने अपने साध की आंशिक पूर्ति की। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी-निरुक्त' के बारे में लिखते हुए कहा-"अपनी सवा सौ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक 'हिन्दी-निरुक्त' में यास्क के बतलाये नियमों का उन्होंने बड़े चमत्कारी रूप से इस्तेमाल किया है। यह सभी जानते हैं कि पुराने अकाट्य नियमों का प्रयोग नई परिस्थितियों में करना साधारण आदमी का काम नहीं है पर वाजपेयी जी केवल पुराणों की देनों से ही संतुष्ट रहने वाले पुरुष नहीं हैं। 'अवधी' के वे सुपुत्र हैं तथा 'ब्रज' और 'कौरवी' भूमि में चिर और एकांत निवास के समय उन्होंने जनमुख से निकले शब्दों को साधारण श्रोता के तौर पर नहीं सुना। उनके मनन का ही परिणाम है कि वे हिन्दी के शब्दों की सात पीढ़ी की नब्ज पहचानते हैं !"[74]

राहुल जी यह जानते थे कि हिन्दी निर्वचन शास्त्र पर काम करने के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी किशोरीदास वाजपेयी हैं पर जिसका पूरा साहित्यिक जीवन ही चिन्ता और आर्थिक संघर्ष में बीता हो, वह कैसे डटकर काम कर सकता है। राहुल जी की यह चिन्ता और दुख जायज ही है कि "वाजपेयी जी पांच बड़ी-बड़ी जिल्दों में हिन्दी को निर्वचनात्मक (निरुक्तिय) कोश दे सकते हैं; पर उसकी जगह वे 'हिन्दी-निरुक्त' के रूप में उसकी भूमिका भर ही लिख सके हैं।"[75] वाजपेयी जी के मन में न केवल निरुक्त बल्कि 'ध्वनि' आदि पर भी गहराई तक जाकर काम करने की इच्छा थी। 'भारतीय भाषा विज्ञान' के परिशिष्ट भाग में उन्होंने शब्द, अर्थ और ध्वनियों के आगम तथा लोप की गहरी छानबीन के बाद अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

वाजपेयी जी कहते हैं- "शब्दों की 'ध्वनि' में भी आगम-लोप होता रहता है। 'पठ' का विकास 'पढ़' हिन्दी धातु है जो कि अपने मूल स्थान (कुरु जनपद) में ज्यों का त्यों चल रही है परन्तु राष्ट्रभाषा में एक अइ। ध्वनि का आगम हुआ जिसे प्रकट करने के लिए नीचे बिन्दी लगाई जाती है- 'पढ़ना'। संस्कृत प्राकृत में 'ढ' ही मूल ध्वनि है।"[76] अर्थात् 'ढ' मूल ध्वनि है। 'ढ़' नई ध्वनि का आगम हुआ।

कई बार किसी ध्वनि का एकदम लोप ही हो जाता है। किशोरीदास जी कहते हैं- "संस्कृत-प्रयुक्त 'ऋ' स्वर तथा 'ण'- व्यंजन और विसर्ग (अयोगवाह) की असली ध्वनि प्रायः लुप्त हो गई है। 'लृ' स्वर का लोप तो बहुत पहले ही हो चुका था। वर्ण-सामान्य में उनका स्मरण अवश्य है परन्तु ध्वनि उसकी भी गायब है। 'अ' 'क' आदि 'अक्षर' ध्वनि हैं। इनके क्षरण की सम्भावना नहीं- इनके टुकड़े नहीं हो सकते। परन्तु 'लृ' के तीन टुकड़े है। 'ल्, र्, इ'। तब यह एक वर्ण कैसे ? उच्चारण मूल गए। जब शब्द का प्रयोग ही उठ गया तो उच्चारण कैसे ठहरे ! .... 'ऋ' स्वर का चलन संस्कृत में अत्यधिक है और आज की भारतीय भाषाओं में भी 'ऋण' 'ऋतु' जैसे तद्रूप संस्कृत शब्द चलते हैं। परन्तु 'ऋ' की असली ध्वनि नहीं। 'रि' तथा 'रु' के उच्चारण में स्पष्ट ही द्विवर्णता है। तब 'ऋ' एक वर्ण कैसे ? पाणिनी के समय में ही इस स्वर का उच्चारण ऐसा हो गया था और इसलिए पाणिनीय व्याकरण में 'ऋ' को द्विवर्ण कहा गया है।"[77]

'लृ' और 'ऋ' की गहरी छानबीन करते हुए वाजपेयी जी कहते हैं- "ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उस 'मूल जनभाषा' में 'लृ' स्वर का प्रयोग अवश्य होता होगा, जिसका परिष्कृत रूप् वेदों में मिलता है। जनभाषा के कई उच्चारण साहित्यिक भाषा में छोड़ दिए

जाते हैं। .... इसी तरह जनभाषा के जो तत्व वेद में लिए गए होंगे, उनके लिए 'लृ' स्वर जानने-समझने की व्यवस्था हुई होगी। आगे चलते-चलते 'लृ' का प्रयोग एकदम उड़ गया; परंतु पुरानी (वैदिक) संस्कृत समझने के लिए संस्कृत व्याकरण में 'लृ' का स्मरण आवश्यक है।"[78] पुरानी (वैदिक) संस्कृत क्यों ? इसलिए कि "संस्कृत-भाषा में ऐसे शब्दों के दर्शन दुर्लभ हैं जहां इस 'लृ' स्वर का अस्तित्व किसी भी रूप में प्राप्त हो। 'द्वितीय संस्कृत' में (ब्राह्मण ग्रंथों तथा 'उपनिषद् साहित्य में) भी प्रायः यही बात है।"[79]

वाजपेयी जी कहते हैं कि 'ऋ' तथा 'लृ' का उच्चारण आज अन्य स्वरों की तरह स्वतन्त्र नहीं.... जब पृथक स्वतन्त्र साथ ही न रही तब उपेक्षा सम्भव है, संस्कृत से 'लृ' के उड़ने में भी यही कारण रहा हो। परन्तु मूल भाषा में (तथा वैदिक संस्कृत में भी) 'लृ' का कोई स्वतन्त्र उच्चारण अवश्य रहा होगा 'ऋ' का भी कोई विशेष उच्चारण रहा होगा।"[80]

इसकी व्याख्या करते हुए वाजपेयी जी पाणिनी के प्रथम वर्णसमाम्नाय सूत्र- 'अइउण' सूत्र का जिक्र करते हुए कहते हैं- "इस सूत्र में तीनों मूल स्वर आ गए हैं जिनका स्वतन्त्र उच्चारण ज्यों का त्यों बना हुआ है। 'ऋ' तथा 'लृ' को इससे पृथक स्वतन्त्र सूत्र में पाणिनी ने रखा है- 'ऋलक'। इसमें 'ऋ' तथा 'ल्' ग्रंथित हुए हैं। उन तीन मूल स्वरों से इन दो मूल स्वरों को अलग क्यों रखा क्या ? और भी कारण हो सकता है; परंतु एक कारण यह भी कि उन तीनों का उच्चारण ज्यों का त्यों बना हुआ है और इन दोनों का लुप्त हो गया है। इसीलिए इन दोनों की, उन तीनों से, अलग बस्ती बनाई गई।"[81]

उच्चारण-स्थान के हिसाब से 'ऋ' को कहां होना था ? वाजपेयी जी कहते हैं- "कंठ के अनन्तर 'तालु' है। 'इ' का उच्चारण तालु से होता है। इसलिए वर्णमाला में 'अ' कके बाद 'इ' को रखा गया है। 'उ' का उच्चारण ओष्ठ से होता है। इसीलिए 'इ' के अनन्तर इसे स्थान मिला है। उच्चारण क्रम से, उच्चारण स्थानों के क्रम से 'इ' के अनन्तर 'ऋ' को वर्णमाला में रहना चाहिए था। परन्तु उच्चारण असली तो हम सब भूल गए न ! इसीलिए अन्य स्थान जिस स्वर (उ) का है, उससे भी बाद पाणिनी से 'ऋ' को वर्ण-सम्मान्य में रखा है- 'ऋलक'। 'लृ' का दन्त स्थान जो प्रसिद्ध है, सही नहीं। इसका उच्चारण तो पहले उड़ गया होगा। इसीलिए तालु 'उ' के भी अनन्तर '◌ृ' वर्णमाला में स्थित है। आज के उच्चारण के अनुसार तो 'उ' से पहले और 'इ' से के बाद इसका स्थान आता है। परन्तु इससे क्या ? अपने असली स्थान का महत्व होता है। उसी के लिए कहा गया है- 'स्थानं प्रधानम्'। नकली स्थान की कोई कदर नहीं। कोई पूछ नहीं ! वहाँ से हटना पड़ता है। 'ऋ' को वर्णमाला में 'र' के साथ भी नहीं बैठाया गया; क्योंकि वह स्वर है।[82]

आप 'ण' को लीजिए। 'ण' का उच्चारण भी लुप्त है। बाजपेयी जी कहतें हैं- "'ड़' के 'अ' को अनुनासिक कर दें, तो वह ध्वनि हो जाती है जो कि 'ण' के लिए आज प्रचलित है- 'ड़ँ'- 'ण'। 'ड़ँ' में स्वर अनुनासिक है- 'अँ'। व्यंजन निरनुनासिक है। तब 'ण' में व्यंजन अनुनासिक कहाँ रहा ? 'ननद' में 'न' व्यंजन अनुनासिक है और उसमें 'अ' निरनुनासिक है। 'ण' में वह बात नहीं। नँदरानी में 'नँ' का व्यंजन (न्) भी अनुनासिक है और स्वर (अँ) भी अनुनासिक। परन्तु 'ण' का 'णँ' रूप कभी भी न मिलेगा; क्योंकि इसकी ध्वनि में तो पहले से ही स्वर अनुनासिक है- 'ड़ँ'के रूप में। तो, आखिर 'ण' की असली ध्वनि क्या थी ? यह अलग विषय है। संभव है पता लग जाए। परन्तु इसकी आजकल जो ध्वनि प्रचलित है, असली नहीं। असली ध्वनि का लोप हो गया।"[83]

असली ध्वनि तो विसर्ग (अयोगवाह) की भी लुप्त हो गई। (अयोगवाह उन ध्वनियों को कहते हैं जिनका न स्वरों से योग होता है,न व्यंजनों से, फिर भी अर्थ वहन करते हैं।)

विसर्गों के उच्चारण भी तात्विक न होने की बात कहते हुए वाजपेयी जी कहते हैं- "आजकल पूरी तरह 'ह' जैसा उच्चारण विसर्गों का होता है। प्रायः का उच्चारण प्रायह होता है।"[84] तो फिर 'ह' की ध्वनि कैसी रही होगी ? वाजपेयी जी कहते हैं- "परन्तु 'ह' से पृथक ध्वनि विसर्गों की होनी चाहिए। प्रत्येक ध्वनि के लिपि में पृथक संकेत आर्य-पद्धति है। एक ही ध्वनि के लिए अनेक लिपि संकेत नहीं हो सकते। निःसन्देह वह 'ध्वनि' 'ह' की ध्वनि से मिलती-जुलती होगी; क्योंकि इन दोनो का उच्चारण स्थान कंठ ही है। .....अब आज तो (संस्कृत जगत में भी) विसर्गों का उच्चारण 'ह' जैसा ही होता है।"[85]

भाषा-विज्ञान और व्याकरण उलझनों के बारे में वे बहुत गहराईपूर्वक विचार करते थे, तब अपनी राय देते थे। विषय का गहराई पूर्वक अध्ययन और उससे प्राप्त निष्कर्षों को अपने तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही अपना मत स्थिर करना उनकी विशेषता थी। यही कारण है कि व्याकरण और भाषा विज्ञान की अनेक जटिल समस्याओं के विवेचन में कहीं भी वह उलझन में नही दिखाई देते। विवेचन करते समय कई बार उनके वाक्य सूक्ति की तरह हो जाते हैं। इसका स्पष्ट कारण उनकी साफ दृष्टि है, उन्हें यह कहने में कोई दुविधा नहीं थी कि- "भाषा अपने उपादान की दृष्टि से प्राकृतिक है और निर्माण की दृष्टि से मानवकृत।"[86] आप चाहें तो इसे कही हुई सूक्ति की तरह लिख सकते है।

'भारतीय भाषा विज्ञान' लिखकर दबे-छिपे स्वर में चुनौती देने वाले सूरमाओं को वाजपेयी जी करारा जवाब दिया था। 'हिन्दी शब्दानुशासन' के बाद भारतीय भाषा विज्ञान की स्थापनाओं में हलचल मचा दी। सुप्रसिद्ध भाषा विज्ञानी डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने वाजपेयी जी को भेजे बधाई पत्र में लिखा- 'आपने आधी सदी के भाषा विज्ञान को उलट दिया है।' 'हिन्दी शब्दानुशासन' के बाद 'भारतीय भाषा विज्ञान' के रूप् में वाजपेयी जी ने हिन्दी समाज को दूसरा अमूल्य उपहार दिया। भाषा विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में

काम करने वाला कोई भी विद्वान वाजपेयी जी के इन दो ग्रन्थों के अध्ययन और इनसे प्राप्त निष्कर्षों के बिना आगे बढ़ सकेगा यह सोचना ही मूर्खता होगी। ये दोनों ग्रथ व्याकरण और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में आधार ग्रंथ हैं जिनके बिना व्याकरण और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में सही दिशा में एक भी कदम बढ़ाना असम्भव है। राहुल जी ने इस संदर्भ में वाजपेयी जी के ऊपर इस ग्रंथ की भूमिका में उचित ही टिप्पणी की थी- "वाजपेयी जी भारतीय भाषा विज्ञान के प्रथम मुनि हैं। उत्तर मुनि भी आएंगे जो प्रथम मुनि के कंधे पर खड़े होकर और ऊपर उठेंगे। एक आधार मिल गया है।"[87]

संस्कृत और हिंदी आदि पर विचार करते समय लोग आमतौर पर जनपदीय भाषा को भूल जाते हैं। संस्कृत की आधार भाषा क्या थी ? संस्कृत का विकास कैसे हुआ ? हिन्दी का संबंध किससे है ? इसका विवेचन करने में संस्कृत के तीनों रूपों, पाली या फिर जनपदीय भाषाओं की क्या भूमिका रही है ? ऐसे अनेक प्रश्नों के स्पष्ट उदार उत्तर 'भारतीय भाषा विज्ञान' में हैं। किशोरीदास जी ऐसे पहले भाषा विज्ञानी और वैयाकरण थे जिन्होंने जनभाषा के महत्व को पहचाना।

'हिन्दी शब्दानुशासन' और 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक देने के बावजूद अभी भी हिन्दी वालों की उपेक्षावृत्ति कायम ही थी। लोग भीतर ही भीतर किशोरीदास जी की प्रतिभा के कायल अवश्य थे पर इसे प्रकट न करते थे। 'हिन्दी शब्दानुशासन' और 'भारतीय भाषा विज्ञान' की स्थापनाओं हलचल मची हुई थी। इस हलचल का एक प्रमुख कारण अब तक चली आ रही अनेक मान्यताओं को किशोरीदास जी द्वारा ध्वस्त कर देना था। किशोरीदास जी का दी गई लीक से अलग चलना भाषा विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में काम कर रहे परम्परावादी और पश्चिमोन्मुखी दोनों विद्वानों को स्वीकार न था। जाहिर था, ऐसे लोगों को किशोरीदास जी अच्छे न लगते थे। ऐसे लोग भी थे जो किशोरीदास की इन कृतियों के महत्व से भली-भांति परिचित थे पर वे भीतर ही भीतर उनसे ईर्ष्या भाव से परिचालित थे।

किशोरीदास जी हिन्दी समाज की इस स्थिति से आहत थे। उन्होंने 9-10-1961 को डॉ. रामविलास शर्मा को भेजे एक पत्र में अपना दुःख प्रकट करते हुए लिखा- "जैसी आपकी कृतियों को लोग मौन ग्रहण करते हैं, उसी तरह मेरी पुस्तकों को भी। ईर्ष्या से हर्ष नहीं प्रकट कर सकते। मन में चाहे जितनी अच्छी लगे चीज। जहाँ मत भेद हुआ; वहाँ भी खुलकर बोल नहीं सकते, डरते हैं कहीं अपनी ही जड़ता न हो और भद्द कुटे। चुप्पी के ये दो ही कारण हैं।"[88]

लेकिन पूरे कुएँ में ही भांग पड़ी हुई हो, स्थिति ऐसी भी नहीं थी। 1961 में ही एक अच्छी बात यह हुई कि कलकत्ता में कुछ लोगों ने वाजपेयी जी के अभिनंदन की योजना बनाई और वाजपेयी-अभिनंदन-समिति का गठन हुआ। 10 दिसंबर 1961 को आयोजित होने वाले इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि के रूप में राहुल सांकृत्यायन को आमंत्रित किया गया था। वाजपेयी जी ने रामविलास शर्मा को लिखा- "दिसंबर में कलकत्ता वाले इस 'उजड्ड' का सम्मान करने वाले हैं। आप चल सकेंगे, तो अच्छा होगा, उत्सव सफल होगा।"[89]

राहुल जी किशोरदास वाजपेयी की प्रतिभा का बहुत आदर करते थे, यही कारण है कि वह अस्वस्थ होने के बाद भी इस कार्यक्रम में आए। उन्होंने इसमें संक्षिप्त वक्तव्य भी दिया था। (राहुल जी का यह अंतिम सार्वजनिक समारोह था क्योकि इसके ण्क ही दिन बाद उन्हें स्मृतिहीनता के दौरे पड़ने लगे थे।) इस अभिनंदन समारोह में रामधारी सिंह 'दिनकर', गया प्रसाद शुक्ल आदि हिन्दी की विभूतियों ने भी हिस्सा लिया था।[90]

इस अवसर पर वाजपेयी- अभिनंदन-समिति ने उन पर ढाई सौ से ऊपर पृष्ठों का एक अभिनंदन-ग्रंथ भी प्रकाशित किया। ग्रंथ का संपादन कार्य रामधारी सिंह 'दिनकर' और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसी हिन्दी के श्रेष्ठ विभूतियों ने किया था। वैसे वाजपेयी जी अभिनंदन के लिए इतनी आसानी से राजी न हुए थे। बहुत मुश्किलों के बाद उन्होंने अपने हामी भरी। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने अभिनंदन हेतु लेख मंगाए जाने से मना कर दिया था। ग्रंथ में प्रकाशित हो रहे लेखों के बारे में उन्होंने स्पष्टतः कहा- जो जैसा लिखे, वैसा छापो। भले ही वह उनके भी विरुद्ध क्यों न हो।

वाजपेयी जी से चिढ़ने वाले लोग उनके विरुद्ध यह प्रवाद फैलाते रहते थे कि वह किसी का सम्मान नहीं करते और जान-बूझकर लोगों से तकरार मोल लेते हैं। झगड़ालू हैं और साथ ही तुनुकमिजाज भी। लेकिन स्थिति इसके विपरीत थी। इसके अनेक प्रमाण हैं। उन्होंने प0सिंह शर्मा के 'संजीवन भाष्य' पर आलोचनात्मक लेखमाला शुरू की थी। पर जब शर्मा जी का निधन होगया तो उन्होंने न छपे भाग को मँगवाकर नष्ट कर दिया। पूछने पर उनका जवाब था- "जब सुनने वाला ही न रहा तो बात कहने का फल क्या !" पंडित शालिग्राम शास्त्री 'साहित्य-दर्पण' पर हिन्दी में लिखी अपनी टीका 'विमला' में अनेक पुराने आचार्यों की तीखी आलोचना अशिष्ट तथा अभद्र भाषा में की थी। वाजपेयी जी ने टीका प्रशंसा की पर साथ ही इस बात के लिए तीव्र भर्त्सना भी की कि शब्द प्रयोग तो शिष्टजनोचित चाहिए।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी सारी पुस्तके और कागज पत्र काशी नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दी थी। वाजपेयी जी ने इन कागज-पत्रों के लिए जो लड़ाई लड़ी वह द्विवेदी जी के प्रति उनके सम्मान भाव का अप्रतिम उदाहरण है। किशोरीदास जी द्वारा कोर्ट से नोटिस भिजवाए जाने के बाद ही 'सभा' के अधिकारी यह मानने को तैयार हुए कि कागज-पत्र उनके पास है। ठहरने और भोजन की कोई सुविधा न होने से वाजपेयी जी 'सभा' के एक चपरासी की कोठरी में ही रहते, बाजार जा भोजन कर आते। लेकिन इसके बावजूद चार-पांच दिन लगातार वह कई घंटों तक सभा में बैठकर द्विवेदी जी की समग्री देखते रहते। इस पर भी नागरी प्रचारिणी सभा का सहायक मंत्री उनके

सिर पर सवार रहता था और उन्हें सामने बैठाकर ही कागज देखने देता था। द्विवेदी जी के कागज किस स्थिति में थे, इसका वर्णन आप वाजपेयी जी से ही सुनिए- "रत्न कूड़े में डाल रखे गए थे। एक बड़े अधखुले बंडल को जोर-जोर से पटककर धूल-धक्कड़ झाड़ने लगा, तो भीतर से छिपकती के अंडे निकल पड़े। ऐसी व्यवस्था उन कागज पत्रों की, जिन्दें द्विवेदी जी ने उतने दिन सँजोए रखा और फिर उस निर्देश के साथ 'सभा' को सुरक्षित रखने के लिए सौंपा था।"[91] यह कहने की कोई जरूरत नहीं कि वाजपेयी जी महावीर प्रसाद द्विवेदी का बहुत सम्मान करते थें। वे उनसे मिलने उनके गांव दौलतपुर भी जाया करते थे, भले ही कई किलोमीटर पैदल ही क्यों न चलना पड़े।

ऐसी एक नहीं अनके घटनाएँ हैं जिनसे वाजपेयी जी की सदाशयता प्रकट होती है। यह स्थिति केवल वरिष्ठों के साथ ही न थी। नागर जी किसी गोष्ठी में भाग लेने देहरादून गए। लौटते समय नागर जी की पत्नी प्रतिभा नागर अस्वस्थ हो गईं। हरिद्वार स्टेशन पर वाजपेयी जी के एक मित्र हाथों में दवाइयां लिए हुए मौजूद थे। दूसरों की चिंता भी किशोरीदास जी की अपनी चिंता थी।

वे किसी भी ओर से झगड़ालू और तुनुकमिजाज न थे पर उनसे चिढ़ने वाले लोगों ने उनकी छवि झगड़ालू, तुनुकमिजाज और क्रोधी स्वभाव की बनाकर रख दी थी। उनके तुनुकमिजाजी के पीछे भी परोपकार की ही भावना मुख्य थी। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' द्वारा प्रस्तुत ऐसी ही घटना का विवरण अमृतलाल नागर ने एक जगह दिया है- "कनखल के चौक में प्रभाकर जी से एक दिन वाजपेयी मिल गए- 'कपड़े अस्त-व्यस्त और हड़बड़ाए से। बोले हमारा यह पत्र जरा थाने में दे आओ।' प्रभाकर जी ने बात पूछी परन्तु वाजपेयी जी उस समय पत्र को थाने पहुंचाने की धुन से बंधे हुए थे, कुछ कहने-सुनने को तैयार न हुए। प्रभाकर जी उनसे पत्र लकर चलो। रास्ते सोचा कि एक बार पत्र खोलकर पढ़ लिया जाय। पढ़ा, उसमें लिखा था- 'चौक में तैनात पुलिस का सिपाही घोड़े वालों (घोड़ों पर गाँव से लकड़ी लादकर लाने वालों) से लकड़ी माँग रहा था। मैंने उसे मना किया तो उसने मुझे गाली दी।' वाजपेयी जी ने सिपाही से होने वाली अपनी हाथापाई का वृत्तान्त भी लिख दिया और यह सूचना भी सरकार यानी थानाध्यक्ष को दे दी कि हाथापाई में सिपाही वर्दी फट गई है।" पढ़कर प्रभाकर जी ने सोचा कि 'यह तो बिना गवाह जेल जाने का रास्ता है।' लौट आए और आचार्य जी को कानून की पोल समझाई। सुनकर वाजपेयी जी हंसे, कहा- 'अरे, यह बात तो मैंने सोची ही न थी।' उनकी हंसी में सरलता थी उसका स्पर्श आज भी अनुभव करता हूँ।"[92]

यदि प्रभाकर जी ने सावधान न किया होता तो अपनी ओर से किशोरीदास जी ने तो फिर से जेल जाने का पूरा इंतजाम कर ही लिया था। परोपकार की इसी मूल भावना के कारण वाजपेयी जी कई बार आफत में पड़े। बारम्बार संकट में घिरने और फंसने के बावजूद उन्होंने अपनी यह मूल वृत्ति न छोड़ी। खुद कष्ट सहकर भी दूसरों के काम आते। वाजपेयी जी की आर्थिक स्थिति किसी से छिपी हुई नहीं थी। 'हिन्दी शब्दानुशासन', और 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसे कालजयी ग्रंथों का रचनाकार किसी दूसरे देश में होता तो इन किताबों की रॉयल्टी के दम पर ही अपनी पूरी जिंदगी आराम से गुजार सकता था।

प्रतिकूलताओं के चक्रव्यूह में फंसे वाजपेयी जी को चैन न था। आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें भीतर ही भीतर कितना तोड़ रही थी इसकी एक झलक रामविलास शर्मा को लिखे इस पत्र से प्रकट होती है- "बेटी का ब्याह सचमुच नारियल और एक रुपये में करना चाहता था; परन्तु तीन वर्ष तक सिर मारने के बाद अनुभव हुआ कि मेरी लड़की इस 'धर्म प्रधान' और 'संस्कृति प्रधान' देश में अनब्याही ही रहेगी। सर्वत्र 'क्या खर्च करोगे ?' सुना। मैंने इसउम्र में कभी सौ रुपये भी न जोड़े थे, न जोड़ पाया। लोहे के चने चबाने पड़े बच्चों को रोटी-दास देने में, तब हजारों कहाँ से लाता ! अनेक बार आत्महत्या कर लेने का मन हुआ। वैद्यनाथ वालों से कहा कुछ नहीं; यद्यपि मुझे ये मानते थे जब उन्होंने स्वयं थिति देखकर कहा कि 'लड़का ढूढ़ लो, खर्च की चिन्ता मत करो। तब एक सुयोग्य 'लडका' तै कर लिया। .... इतने में तब हुआ जब 'लड़का' मुझमें भक्तिमान् और इधर रुझान।"[93]

आर्थिक परिस्थितियों और सामाजिक रूढ़ियों के दबाव से वाजपेयी जी कितने विचलित थे, इसका अनुमान इस पत्र से लग जाता है। वैद्यनाथ वाले यदि इस स्थिति में सामने न आते तो किशोरीदास जी का परेशानियों के इस चक्रव्यूह से बाहर निकल पाना संभव न था।

वैद्यनाथ आयुर्वेद के निदेशक रामदयाल जोशी और रामनारायण शर्मा वाजपेयी जी के पुराने परिचित थे। वाजपेयी जी उनके पुत्रों को तीन वर्ष तक पढ़ा चुके थे। लड़के वाजपेयी जी के घर रहकर ही पढ़ते। उनके खाने-पीने के खर्च के लिए वे तीन सौ रुपये मासिक भेजते। इस दौरान के जीवन-यापन में वाजपेयी जी को उतनी परेशानी न थी। परेशानी तब फिर शुरू हुई जब लड़के आगे की पढ़ाई हेतु अमरीका और इंग्लैंड चले गए।

खैर ! वैद्यनाथ वाले वाजपेयीय जी का हित आदर करते थे। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है वैद्यनाथ वालों ने किशोरीदास जी से कहा लड़का ढूढ़ लो; खर्च की चिंता मत करो। पर इसी दौरान एक और घटना वाजपेयी जी के व्यक्तित्व के एक अन्य पहलू को उजागर करती है।

वैद्यनाथ वाले रामदयाल जोशी के बड़े लड़के को आम चुनाव में कांग्रेस ने अपना उम्मीद्वार बनाया। उनके पास चुनाव प्रचार हेतु आदमियों की कमी न थी पर किशोरीदास जी उनके मित्र थे। उन्होंने मित्रता निभाने को सोची। आगे क्या हुआ ? इसका विवरण किशोरीदास जी से ही सुनिये- "समर्थन के लिए पूरी फौज थी; पर मैं भी कर्तव्य समझकर चला गया परंतु तब तक मेरे मन में कांग्रेस से घृणा पैदा हो चुकी थी। सोचा, उम्मीद्वार की बड़ाई करूँगा परंतु कठिनाई यह कि अपने हृदय को छिपा नहीं पाता। वहां जाकर एक सभा में जो भाषण

दिया तो कांग्रेस के लिए कुछ वैसी बातें मुंह से निकल गईं और कहा कि यदि ऐसे लोग कांग्रेस की ओर से विधान सभा में जायेंगे तो सब ठीक कर लेंगे। मेरे भाषण लोग चिढ़ गए। वैद्य जी बीमार थे। क्रोध से काँपने लगे। कहा- "आप हमारा काम बिगाड़ रहे हैं।" मुझे बुरा लगा और मैंने कहा मुझे जोशी के पास भिजवा दीजिये।"[94]

वहाँ उस दिन मुख्यमंत्री को आना था। उन्हें आने में कुछ देर हो गई तो जोशी जी ने वाजपेयी जी को कुछ बोलने हेतु कहा। किशोरीदास जी पहली सभा की घटना की पुनरावृत्ति से बचना चाहते थे। बचकर बोलने की कोशिश के बावजूद भी वाजपेयी जी के मुंह से कुछ ऐसी-वैसी बात निकल ही गई जिससे जोशी जी तिलमिला उठे। घटना का विवरण देते हुए किशोरीदास जी कहते हैं- "परंतु दोनों सभाओं में मुझे किसी ने नहीं रोका। ......फिर वैद्य जी भी आ गए दोनों भाइयों में सलाह हो गई। घर में जोशी जी ने कहा- 'आप हमारा काम बिगाड़ रहे हैं।' अब मुझसे रहा न गया। भारी क्रोध आया और उन दोनों भाइयों से फिर बोला नहीं। चल पड़ा। चलते समय 'नमस्कार' भी नहीं ! यद्यपि वे दोनों मोटर के सामने खड़े थे। रेल में बैठकर घर आ गया। अब लड़की के विवाह की फिर वही चिन्ता। चुनाव का फल निकला, सुलता मिली। मैंने बधाई भी नहीं भेजी। फिर भी वैद्य जी का लंबा पत्र आया और उलटे उन्होंने उस कांड पर खेद प्रकट किया और पूछा- 'लड़का ढूढ़ लिया ?'"[95]

वैद्यानाथ वालों से वाजपेयी जी के खटरपटर की यह अकेली घटना नहीं है। इसी पत्र में इसकी चर्चा करते हुए किशोरीदास जी कहते हैं-"इसी तरह की घटनाओं की ओर इशारा करके जोशी जी ने लिखा है कि 'वाजपेयी जी अनेक बार हमसे रूठे और नरम पडे' ... और कोई सठ-सेठ कैसे सहन करता ? बस, फिर ज्यों का त्यों।" कहना न होगा कि इन दोनों भाइयों ने लड़की की शादी में अपनी पूरी जिम्मेदारी निभाई।

वैद्यनाथ वाले दोनों भाई किशोरीदास का पूरा सम्मान करते थे। वे उनकी कही बात टालते न थे लेकिन वाजपेयी जी बहुत स्वाभिमानी थे। उन्हें यूं ही किसी की मदद लेना ठीक न लगता था। वैद्यनाथ वाले तो खैर वाजपेयी जी को बहुत ज्यादा चाहते थे। वे लोग किशोरीदास जी को अच्छी तरह समझते थे। वाजपेयी जी का उनसे निभने कारण यही था कि उन्हहें किसी बात से ठेस न पहुंचे इसका वे पूरा खयाल रखते थे।

आत्म सम्मान को ठेस पहुंचाने वाली कोई बात उन्हें बर्दाश्त न थी। कई लोग वाजपेयी जी के इस स्वभाव से परिचित न थे। कानपुर के साप्ताहिक 'रामराज्य' में उन पर एक लेख छपा। लेख में उनकी साधना और निष्ठा की तारीफ थी पर साथ ही कुछ इस आशय की पंक्ति भी थी कि "ऐसे वाजपेयी जी भी ऐसे दिन निकाल रहे हैं।" वाजपेयी जी को लेख का यह स्वर पसंद न आया। उन्होंने तत्काल उसके संपादक और लेखक को नोटिस भिजवाई कि आपने इस तरह के हीन शब्द लिखकर मेरी बेइज्जती की है। नोठिस में साफ-साफ लिखा था कि आप माफी मांगे और माफीनामा छापें अन्यथा वे अदालत में मानहानि का दावा दायर करेंगे। वाजपेयी जी की नोटिस का असर पडा। माफीनामा छपा और साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि आगे से ऐसा कुछ न छपेगा।

भाषा विज्ञान व व्याकरण पर काम करने के बाद उनकी इच्छा हिन्दी को उसका काव्यशास्त्र देने की थी। वह अपने युग के लोगों पर लिखने की योजना भी बना रहे थे ताकि आने वाली पीढ़ी उस युग का परिचय प्राप्त कर सके और समझ सके। वह महावीर प्रसाद द्विवेदी से आखिरी दिनों तक संपर्क में थे तो प्रेमचंद के साथ भी उन्होंने कुछ समय तक काम किया था। हिन्दी विज्ञान लेखन की शुरुआत करने वालों में से एक रादास गौड़ से उनका अच्छा परिचय था। वह इन सबके ऊपर लिखना चाहते थे। काव्य शास्त्र लिखने हुतु भी उन्हें सुविधा की जरूरत थी लेकिन जीवन के विकट संघर्षों ने उन्हें झकझोर कर रख दिया था।

किशोरीदास जी का जीवन-संघर्ष केवल आर्थिक ही न था। परिवार पर काल की निरन्तर मंडराती छाया ने भी उन पर घातक असर डाला था। बचपन में ही प्लेग के प्रकोप से उन्हें माँ, पिता और बहन की मृत्यु का सामना करना पड़ा था। पहले लड़के की मृत्यु मात्र तीन वर्ष की उम्र में ही हो गई थी। तीसरे पुत्र के निधन का सदमा भी उन्हें झेलना पड़ा। मृत्यु का यह सिलसिला यहीं तक न रूका ! किशोरीदास जी की एक प्रिय पुत्री भी असमय ही मृत्यु का ग्रास बनी। दौहित्र और दौहित्री की अकाल मृत्यु का सदमा भी उन्हें कम न था। परिवार में मौत के इस निरंतर सिलसिले ने उन्हें कितनी चोट पहुंचाई थी, इसका अनुमान लगा पाना मुश्किल है।

लगातार मृत्यु के इस सिलसिले ने वाजपेयी जी को भीतर तक हिलाकर रख दिया था। इसका सीधा असर उनके स्वास्थ्य पर पड़ रहा था। वह स्वास्थ्य पर पड़ रहे घातक प्रभाव से अनजान न थे। 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्' को वह भली-भांति समझते थे पर स्थितियां उनके वश में न थीं। उन्होंने एक पत्र में डॉ. रामविलास शर्मा को लिखा- "आपने कहा था- 'लड़ते रहिए', पर अब वह जोश नहीं। पहले आपने लिखा- 'बहुत कर लिया। अब अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखिए' पहली बात ही ठीक है। ....यादाश्त जा ही रही है; सिर भी दूख्ता रहता है- कभी दिन में कभी रात में। संस्कृत का शरीर उर्दू का 'शरीर' बन गया है। 'मानस संपादन' में एक वर्ष लग सकता है। .... सहायक और सामग्री भी चाहिए। कौन देगा ? मन भी मर गया है। हिन्दी में सब कुछ चल रहा है।"[96]

उचित सहयोग व आवश्यक सुविधा न मिल पाने से भी वाजपेयी जी परेशान थे। 'हिन्दी में सब कुछ चल रहा है।' वाक्य में छिपा उनका तीव्र असंतोष आसानी से समझा जा सकता है। इन प्रतिकूलताओं के

बावजूद वह स्थितियों के पलटने की उम्मीद कर रहे थे। इसी पत्र में उन्होंने लिखा-

'यहि आसा अटक्यो रहे, अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं कबहुँ बसन्त ऋतु, इन डारन वै फूल।'[97]

लगातार विपत्तियों के बावजूद वाजपेयी जी ने काम बन्द न किया था। वह इनसे जूझ रहे थे। कर्म ही इन दुःखों से उन्हें लड़ने और जूझने की शक्ति दे सकता है यह बात वह अपने अनुभव से जानते थे। उन्होंने 11-12-62 को लिखे गए एक पत्र में डॉ. शर्मा से अपने मन की बात ही कही- "जब मन पर कोई बड़ा आघात हो, तो उसे किसी काम में उलझा देना चाहिए- कोई ऐसा काम करने लगना चाहिए, जिसमें मन उलझ जाए।"[98]

एक और वाजपेयी जी इन विपत्तियों का निरन्तर सामना कर रहे थें तो दूसरी ओर म नही मन उनसे चिढ़ने वाले लोग भी थे। भीतर ही भीतर उनसे ईर्ष्या रखने वाले लोग वाजपेयी जी पर आरोप लगाते थे कि उन्हें दूसरों की पगड़ी उछालने में ही सुख मिलता है। यह बात सही है कि हिन्दी में अराजकता फैलाने वाले व गलत स्थापनाओं को प्रचारित -प्रसारित करने वाले कितने ही लोगों की कड़ी खबर उन्होंने अपने निबन्धों व किताबों के जरिए ली थी। वाजपेयी जी ने यह सब काम कर्तव्य के तहत ही किया था। हिन्दी में फैली अव्यवस्था व अराजकता उन्हें बर्दाश्त न थी। वे इसे दूर करना अपना प्राथमिक कर्तव्य मानते थे।

किशोरीदास के ऊपर लगाया गया यह आरोप एकदम निराधार था कि दूसरों की कटु आलोचना से उन्हें रस मिलता है। वे हिन्दी के लिए अपना जीवन लगा देने वालों का आदर करते थे पर इसका यह मतलब नहीं था कि वे उनकी गलत स्थापनाओं को भी स्वीकार कर लें और उनका खण्डन न करें। यह उचित न था। वाजपेयी जी खरे आदमी थे। स्पष्टवादिता उनका प्रमुख गुण था। बात को चाशनी में घोल कर कहने की उनकी आदत न थी।

वाजपेयी जी ने उन लोगों के भी सम्मान की योजना बनाई जिनके बारे में आम तौर से यह कहा जाता था कि वाजपेयी उनके कट्टर विरोधी हैं। उन्होंने अपनी इस योजना की जानकारी देते हुए लिखा- "मैं अपने उन साहित्यिक बंधुओं सम्मान करना चाहता हूँ, जिन्होंने हिन्दी शब्द शास्त्र में ही अपनी उम्र लगाई या गलाई है और जो इस समय सार-अस्सी को छू रहे हैं- डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ.. बाबूराम सक्सेना, और बाबू रामचन्द्र वर्मा। इनके मंतव्यों का ही मैंने जोर से खंडन किया है। पं. कामता प्रसाद 'गुरू' होते, तो सबसे पहले मैं उनके ही आगे सिर झुकाकर इसलिए माफी मांगता कि एक कर्तव्य का पालन करने के लिए मेरी कलम आगे बढ़ी और उन्हें कष्ट पहुंचाया।"[99]

भाषा तत्वज्ञ आचार्य रामचन्द्र वर्मा का वह हृदय से आदर करते थे। वाजपेयी जी का उनसे तीव्र मतभेद था। उन्होंने वर्मा जी की स्थापनाओं की तीव्र आलोचना भी की थी। लोग यह उड़ाते थे कि किशोरीदास जी को दूसरों की कटु आलोचना से हार्दिक प्रसन्नता होती है पर वास्तविकता यह न थी। वाजपेयी जी के लिए हिन्दी का हित सर्वोपरि था। वह इस बात के लिए सदैव प्रयासरत रहे कि लोग हिन्दी के लिए खून-पसीना एक कर देने वालों का मूल्य समझ सकें। वह समय-समय पर इन महारथियों का सम्मान कर सकें और जनता को इनके बारे में बता सकें यह उनकी इच्छा थी। किशोरीदास जी का इन महारथियों से मतभेद अवश्य था प रवह इनका आदर करते थे। हिन्दी हित के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वालों की उपेक्षा से वह आहत थे। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि इन महारथियों का समय-समय पर सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाए।

रामचन्द्र वर्मा जैसे वयोवृद्ध हिन्दी साधक को सम्मान देने की बात तो दूर थी; वे 'सम्मेलन' या उसके किसी 'परिषद' के अध्यक्ष तक नहीं चुने गए थे। वाजपयी जी उनकी इस उपेक्षा से बहुत खिन्न थे यद्यपि उन्होंने ही उनकी स्थापनाओं सबसे जबर्दस्त खण्डन किया था। उन्होंने डॉ.. शर्मा को लिखा- "वर्मा जी अब बहुत जर्जर हो गए हैं। पन्हें जीवन में कोई सार्वजनिक सम्मान देने की बात नहीं सोची गई यह खलने वाली बात है। 'सम्मेलन' के या उसकी किसी परिषद के अध्यक्ष भी वे कभी नहीं चुने गए। .... पंजाबी होते हुए भी उन्होंने जन्म हिन्दी की सेवा में लगाया (गलाया) है। .... वर्मा जी का मन मेरी कलम ने बहुत दुखाया है। उसका मुझे दुःख है, पर उस समय वह जरूरी था। हिन्दी सर्वोपरि है। काम हो गया। अब मुझे उनका अभिनन्दन करना चाहिए, जिससे हम दोनों को सुख मिलेगा, मान मिलेगा।"[100]

हिन्दी की उन्नति ही वाजपेयी जी का अंतिम लक्ष्य था। इसके लिए कुछ अप्रिय करने में भी उन्हें जरा भी हिचक न थी। हिन्दी में फैली अराजकता के विरुद्ध वह एक योद्धा की तरह निरंतर सन्नद्ध रहे। कोई उन्हें दुर्वासा कहता, कोई परशुराम तो कोई संहारकर्ता शिव जिनकी 'ख्याति' सब कुछ नष्ट करने में है। लेकिन हिन्दी में फैली अव्यवस्था और अराजकता को दूर करना वाजपेयी जी जरूरी काम मानते थे। इसके लिए उन्हें ऐसी कोई भी उपाधि स्वीकार करने कोई गुरेज न था।

हिन्दी में फैली अव्यवस्था और अराजकता का एक कारण वर्तनी और शब्दों की एक -रूपता को लेकर चल रहा विवाद भी था। वाजपेयी जी इससे परेशान थे। हिन्दी के शब्दों और लिखावट में एकरूपता जरूरी है, इस बात के प्रबल पक्षधर थे। यही कारण था कि हिन्दी में चल रहे गलत शब्द प्रयोगों के विरुद्ध उन्होंने जमकर कलम चलाई। 'छः' सही है या 'छह'। क्या लिखा जाना चाहिए ? वाजपेयी जी ने 'छः' को गलत माना। 'छः' की बजाय 'छह' ठीक क्यों है ? न केवल 'छः', बल्कि अन्ताराष्ट्रिय, राजनीतिक, एशियायी, बृटिश, इंद्रियें जैसे गलत शब्द हिन्दी में धड़ल्ले से चल रहे थे। डॉ.. बाबूराम सक्सेना जैसे प्रतिष्ठित भाषा विज्ञानी ने भी अपने सामान्य भाषा विज्ञान ग्रंथ में इतिहासिक, भूगोलिक जैसे शब्द लिखे थे। वाजपेयी जी यद्यपि हिन्दी शब्दानुशासन में इन शब्दों पर विचार कर चुके थे पर अपनी

बात का असर न पड़ता देख उन्होंने 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द विश्लेषण' नामक एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी थी पर यह किताब छात्रों तथा विद्वानों दोनो के लिए समान उपयोगी है।

'एकत्र जनता' लिखना ठीक है या 'एकत्रित जनता' 'अनेक' सही है या 'अनेकों' अथवा दोना सही हैं। वाजपेयी जी ने वर्तनी के इन गलत रूपों को दुरुस्त करते हुए तर्कयुक्त और सहज विवेचन प्रस्तुत किया। अब जैसे 'छह' पर विचार करते हुए वह कहते हैं- "हिन्दी के अपने शब्दों में विसर्गों का प्रयोग नहीं होता, वर्तनी में सर्वत्र 'ह' दिखाई देता है। ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह। कोई ग्यारः, बारः, तेरः, चौदः, पन्द्रः, सोलः जैसी वर्तनी में इन संख्यावाचक शब्दों का विन्यास नहीं करता। विसर्ग केवल संस्कृत भाषा की चीज है। हिन्दी में (तद्रुप) शब्द 'पुनः' आदि में ही विसर्ग चलेंगे और विसर्ग ही चलेंगे, तो कोई पुनः की जगह पुनह नहीं लिख सकता। ....'छः' तो प्राकृत अपभ्रंश में भी नहीं है। हिन्दी में भी विसर्ग प्रेमियों ने चला दिया या भूल के चल पड़ा। परन्तु ग्यारह आदि बचे रहे और इन्ही को देखकर मेरा ध्यान 'छः' पर गया कि यहां विसर्ग कैसे ? अब तो छह चलने लगा है पर छः भी कहीं-कहीं जमा हुआ है। हट जाएगा। दूसरों के घर में कोई सदा घुसा नहीं रह सकता।"[101]

विसर्गों का 'ह' जैसा उच्चारण, छह को छः लिखने के पीछे एक प्रमुख वजह थी। भाषा वैज्ञानिकों के लिए वह एक उलझन थी कि हिन्दी में संस्कृत 'षष्' का 'छः' कैसे हो गया। उनके लिए यहय एक पहेली थी। इसकी सबसे बड़ी वजह इन भाषा वैज्ञानिकों द्वारा हिन्दी में भी विसर्गान्त शब्दों का मानना था। वाजपेयी जी इस पहेली का हल निकालते हुए कहते हैं- "संस्कृत में छह के लिए षट् शब्द है- षट् शास्त्राणि। छः शास्त्र। इस षट्पद का मूलरूप (प्रातिपदिक) है, 'षष'... सो हिन्दी ने 'षष' प्रातिपदिक को 'सस' कर लिया। स्वरांत कर के 'सस' रूप और 'ससा' यहाँ खरगोश को कहते हैं- शायद मराठी में भी ऐसा हो क्योंकि वहाँ 'सस' के अन्त्य 'स' को 'ह' करके 'सहा' शब्द गृहीत है- सहा शास्त्र- छह शास्त्र। हिन्दी ने भी अन्त्य 'स' का 'ह' कर लिया और फिर आद्य 'स' को 'छ' कर लिया। बन गया- 'छह', अपना संख्यावाचक विशेषण।"[102] यही स्थिति 'राजनैतिक' और 'राजनीतिक' को लेकर थी। किशोरीदास जी ने कहा- "संस्कृत सूंघने वाले विद्वानों ने इसे भी गलत बतलाकर कहा कि संस्कृत व्याकरण से 'राजनीतिक' शब्द बनता है, इसलिए 'राजनीतिक शब्द का प्रयोग हिन्दी में होना चाहिए।"

दरअसल कारण यह था कि द्विवेदी युग के लेखक और जाने-माने विद्वान व्यंकटेश नारायण तिवारी का एक लेख छपा था जिसमें 'नीतिक पतन', 'भूतिक उन्नति', देहिक रोग आदि सही माने गए थे। उनका यह प्रयोग चलने भी लगा था। किशोरीदास जी ने इसका प्रबल प्रत्याख्यान किया और ऐसे प्रयोग मजाक बनकर रह गए। वाजपेयी जी ने 'राजनैतिक' शब्द को शुद्ध मानते हुए कहा- "संस्कृत में नीति का विशेषण नैतिक बनता है; पर राजनीति का राजनीतिक। उसका वहां कारण होगा परन्तु हिन्दी में वह कारण नहीं है। इसीलिए यहाँ 'राजनैतिक' शुद्ध है, सही है। भाषा सर्वदा व्याकरण का अनुशासन नहीं मानती। यदि कोई व्याकरण भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है तो वह धरा का धरा रह जाएगा। संस्कृत के एक वैयाकरण ने 'पुंसु' का वैकल्पिक रूप 'पुंक्षु' भी लिख दिया, सो लिखा ही रह गया। पाणिनी व्याकरण के अनुसार 'विश्रम' बनता है, 'विश्राम' नहीं परन्तु संस्कृत भाषा में विश्राम बराबर चल रहा है जैसे विकार, प्रमाण आदि उसी तरह विश्राम। हिन्दी (संस्कृत व्याकरण में बंधकर) एक ऐसा शब्द ले ले, जो अपने वर्ग के अन्य शब्दों से भिन्न रंग-ढंग रखता हो तो अपना ही रूप विकृत कर लेगी। इसलिए 'विस्तरेण लिखितम्' का 'विस्तार से लिखा' अनुवाद होता है। विस्तार से लिखा मजाक है। यह स्थिति 'राजनैतिक" और 'राजनीतिक' की भी है। संस्कृत के 'राजनीतिक जनानां कथनम्' का अनुवाद हिन्दी में होगा-'राजनैतिक जनों का कहना।

सो, हिन्दी में 'राजनैतिक' शुद्ध है। अन्य शब्द संस्कृत में भी तद्रूप भी चलते हैं पर 'राजनीतिक' आदि न चलेंगे, क्योंकि भ्रम पैदा करेंगे।[103]

वाजपेयी जी ने इस पुस्तक में वर्तनी संबंधी भ्रमों का पूर्ण विराम कर दिया। उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका में कहा- "हिन्दी की वर्तनी में पूर्ण वैज्ञानिकता है, विकार हटा दिए गए हैं..... अब कोई नहीं कह सकता कि हिन्दी में शब्दों की एकरूपता नहीं है।"[104]

इस वर्तनी-प्रसंग से ही जुड़ा हुआ वाजपेयी जी का एक दिलचस्प वाकया है। प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी की वर्तनी की समस्या के बारे में बोलते हुए डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने कहा- "हिन्दी की वर्तनी की समस्या लगभग सुलझ गई है तो वाजपेयी तुरंत उठ खड़े हुए, उन्होंने इसका तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा- "लगभग नहीं, मैंने उसे पूरी तरह सुलझा लिया है।"

व्याकरण और भाषा विज्ञान की पुस्तकें प्रायः रूखी रहती हैं। एक तो व्याकरण और भाषा विज्ञान वैसे ही कठिन विषय है। दूसरी बात यह कि जब कोई इस विषय पर पुस्तक लिखने बैठता है तो वह अपनी विद्वता जमाने का कोई अवसर एकदम नहीं चूकने देता। इसी वजह से इस विषय की अधिकांश किताबें बोझिल और क्लिष्ट हैं पर वाजपेयी जी की किताबें भाषा वैज्ञानिकों और वैयाकरणों के लिए ही नहीं, हिन्दी के आम पाठकों के लिए भी लिखी गई हैं। इस बात का जिक्र पहले ही हो चुका है कि वाजपेयी बात को सुलझाकर कहने की कला में बेजोड़ हैं। उर्दू शब्दों का प्रयोग वे धड़ल्ले से करते हैं। यथावसर इन शब्दों को लेने में उन्होंने कोई कोताही नहीं बरती। डॉ. रामविलास शर्मा ने उचित ही हिन्दी शब्दानुशासन को 'सरस हिन्दी गद्य में रचा हुआ सुपाठ्य ग्रंथ' बताया। न केवल हिन्दी शब्दानुशासन बल्कि उनके व्याकरण और भाषा विज्ञान के अन्य ग्रंथ भी उतने ही सरस हैं। उनकी अन्य

किताबों तथा पत्रों की भाषा श्रेष्ठ गद्य का नमूना हैं। वाजपेयी जी के गद्य के कृछ नमूने देखिए। 'ह' की महिमा का बखान करते हुए वह कहते हैं- "भाषा विज्ञान में वर्णों के जो खेल आप देखेंगे, उनमें से आधे (खेल) इस एक महाप्राण के हैं और आधे में शेष सब स्वर-व्यंजन कूदते हैं।"[105]

किसी का खंडन करते समय उनकी भाषा देखते ही बनती है। यहाँ उनकी विनोदी-वृति सक्रिय हो जाती है। डॉ.. बाबूराम सक्सेना ने अपनी किताब ऐ एक जगह कहा है कि- "ऐसे लक्षण जान पड़ते हैं कि संबोधन के बहुवचन का निरनुनासिक रूप उड़ जाएगा और अनुनासिक ही चलेगा क्योंकि पं. जवाहर लाल नेहरू अपनी स्पीचों में प्यारे भाइयों और बहनों ही बोलते हैं।" इस पर वाजपेयी जी कि टिप्पणी का आनंद लीजिए- "कैसा सुदृढ़ हेतु दिया है अपनी संभावना में ? जब हमारा सबसे बड़ा नेता वैसा बोलता है, तब भाषा बदलेगी कैसे नहीं ?... सब कुछ हो सकता है ? भगीरथ ने गंगा का प्रवाह बदल दिया था। अब कोई पहाड़ पर फिर गंगा जी नहीं चढ़ा सकता ? कहिए- 'गंगा ऊपर हिमालय पर जाकर विलीन हो जाएगी, जहां से निकल रही है'।"[106]

राष्ट्रीय-अन्ताराष्ट्रीय अन्तर- राष्ट्रीय से जूझते हुए वह कहते हैं- "गुरुकुल कांगड़ी में एक नया भवन अभी बनकर तैयार हुआ है उसके बाहर लिखा है- 'राष्ट्रीय भवन' संस्कृत भाषा की पद्धति पर चलकर इसका अर्थ समझा जाएगा- 'राजा के साले का (या सालों का) भवन ! ठीक हुआ ? हवा भी है।"[107]

एक झांकी पत्र की देखें -

"मै रोग से छुटकारा पा चुका हूं, पर उसका कुछ प्रभाव (कमजोरी) शेष है- जैसे अंग्रेजी राज के चले जाने पर भी अंग्रेजह भाषा। नमक खाना कम कर देना चाहिए। उतनी ही मात्रा चाहिए, जितनी कि लीडर में सचाई और ईमानदारी होती है, बस।"[108]

व्याकरण और भाषा विज्ञान पर काम कर चुकने के बाद वह अपनी कुछ अन्य योजनाओं पर काम करना चाह रहे थे। पर निरन्तर खराब हो रहे स्वास्थ्य से उनके काम करने में बाधा पहुँच रही थी। उनके स्वास्थ्य को लेकर न केवल डॉ. रामविलास शर्मा और रामधारी सिंह 'दिनकर' जैसे लोग चिंतित थे बल्कि हजारों मील दूर बैठे सोवियत विद्वान बरखुदारोव भी उनकी तबीयत के बारे सुनकर बेचैन हो उठे। बरखुदारोव ने 5 अक्टूबर 1967 को वाजपेयी जी को पत्र लिखा- "यहाँ मास्को में प्रोफेसर हरदेव बाहरी आए हुए थे। आपका जिक्र छेड़ा तो उन्होंने बताया कि आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। इससे हम परेशान हो गए।"[109]

किशोरीदास जी की तबीयत खराब हो रही थी। कभी-कभी चलते-चलते गिर पड़ने की नौबत आ जाती थी। स्वास्थ्य दिमागी काम करने की इजाजत न देता था। रक्तचाप की शिकायत के अलावा उनकी आंखों में मोतियाबिन्द की भी शुरुआत हो गई थी। वह अभी अपने बीमारी से उबरने की कोशिश ही कर रहे थे कि 1972 के आस-पास उनकी पत्नी रामदुलारी वाजपेयी बीमार पड़ गई। वाजपेयी जी का अधिकांश समय उन्हीं की सेवा-टहल में जाता। अंततः डेढ़ वर्ष बिस्तर पर रहने के बार 9 जुलाई 74 को वह चल बसीं। पत्नी के निधन ने किशोरीदास जी को गहरा धक्का लगा। उन्होंने लिखा- "मैं तो लुंज-पुंज हो गया हूँ। कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। ....ज्ञान सब बेकार हो गया है।"[110]

किशोरीदास जी अपनी बीमारी से उबरने की कोशिश कर रहे थे पर पत्नी की मृत्यु का उन पर गहरा असर हुआ था। वे किशोरीदास जी के हर सुख-दुख की साथी थी। वाजपेयी जी को चक्कर आकर गिर पड़ने की शिकायत भी अक्सर होने लगी थी। कभी-कभी अचानक उन्हें झटके भी लगने लगे थे।

किशोरीदास जी उन लोगों में से न थे जो परिवार और गृहस्थी को न समझते थे। आर्थिक संकटों मे रहने के बावजूद वे अपने पारिवारिक दायित्व से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने लिखा- "छोटा सा राष्ट्र ही है घर। कुटुंब और कुटुंबिनी का जीवन ही तो योग है।"[111]

किशोरीदास ने एक कार्यक्रम का आयोजन किया था। उन्होंने रामविलास जी को बुलावा भेजा पर उनकी पत्नी अस्वस्थ थीं। किशोरीदास जी ने तत्काल लिखा- "पहला काम उनकी साल-संभाल है, बाद में और कुछ.... उन्हें उस स्थिति में छोड़कर हर्गिज यहां (या कहीं भी) आने-जाने की न सोचना... साहित्य तो कर्तव्य सिखाता है न ? कर्तव्य-विमुख साहित्य किस काम का ?"[112]

पत्नी की मृत्यु से उन्हें सदमा लगा था। वह अकेले से रह गए थे। पुत्र मधुसूदन वाजपेयी दैनिक जागरण कानपुर में काम करते थे सो उन्हें वहीं रहना पड़ता था। यद्यपि वह अपने पिताजी का बराबर खयाल रखते। वाजपेयी जी सन् 59 के बाद से कनखल में ही थे। वह यह जगह छोड़ और कहीं जाना भी नहीं चाहते थे।

आमतौर पर इतनी विपत्तियां बड़े-बड़े सूरमाओं के हौसले पस्त कर देती हैं। शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ झेलने के बाद लोगों के स्वभाव में अन्तर आ ही जाता है, पर किशोरीदास जी की तेजस्विता और स्वाभिमानी वृत्ति पर इन घटनाओं का असर न पड़ सका। इसी दौरान की एक घटना है। उ.प्र. हिन्दी संस्थान ने उन्हें दस हजार रु. की पुरस्कार राशि और सम्मान देने की घोषणा की। सम्मान तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारली देसाई के हाथों दिया जाना था। प्रधानमंत्री आए। सम्मान कार्यक्रम शुरू हुआ। वाजपेयी जी का नाम लिया गया पर वे मंच पर नहीं गए। लोगों में उहा-पाह की स्थिति थी। मोरारजी ने सारी स्थिति भांप ली। उन्होंने स्वयं मंच से नीचे उतर कर उन्हें सम्मानित किया। पूरे घटना क्रम पर वाजपेयी जी का कहना था- "सम्मान लिया नहीं, सम्मान दिया जाता है।" सत्ताधीशों से सटे रहने में सुख समझने वालों के लिए यह घटना एक तमाचे से कम नहीं है।

75 से 77 के दौरान वाजपेयी जी का स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधर रहा था पर उन्हें केवल शारीरिक व्याधियाँ ही न थी। लगातार मिल रही उपेक्षा और पुस्तको के उचित प्रचार -प्रसार न होने से उपजा अर्थ संकठ भी उनकी परेशानी का एक मुख्य कारण था। विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग में व्याकरण की सामान्य स्तर की किताबें चलती रहीं पर किसी ने वाजपेयी जी की किताबों को पाठ्यक्रम में रखने की जरूरत न समझी। लोग इनकी किताबों से सामग्री लेकर लिखते और बोलते रहे पर भूले-भटके ही इनका जिक्र करते। 'हिन्दी शब्दानुशासन' और 'भारतीय भाषा-विज्ञान' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों को जान- बूझकर चर्चा से बाहर रखा गया। वाजपेयी जी ने रोषवश विश्वविद्यालयों की विभाग कंदराओं में इन दोनों भास्कर किरणों के प्रवेश न होने की बात सही ही कही थी।

वाजपेयी जी का रोष अनुचित न था। आज भी विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों स्थिति बहुत ज्यादा नहीं बदली है। हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों में आज भी व्याकरण व भाषा विज्ञान के क्षेत्र में औसत दर्जे की किताबें ही चल रही हैं पर किशोरीदास वाजपेयी और डॉ.. रामविलास शर्मा जैसे लोगों की किताबें नहीं चलतीं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जे. एन. यू.) जैसे एकाध अपवाद जरूर हो सकते हैं,पर कुल मिलाकर स्थिति वही है।

'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव ने अपने एक सम्पादकीय में 'विश्वविद्यालयों को साहित्य के कब्रिस्तान' कहकर उचित ही किया था। लीक से हटकर चलना लोगों को स्वीकार नहीं। राजेन्द्र यादव का यह कहना एकदम सही है कि "अपनी स्थापनाओं के बाकायदा स्रोत बताने से हिन्दी प्राध्यापक डरता है।"[113]

मैंने खुद 1985-86 में बी. ए. अन्तिम की परीक्षा के दौरान अपने एक मित्र हुतु हिन्दी के प्राध्यापक से लाइब्रेरी में किशोरीदास वाजपेयी के किताब होने की बात पूछी तो उन्होंने झिड़कते हुए कहा- "कौन किशोरीदास ? भोलानाथ तिवारी को पढ़ो।" उन्होंने उनका नाम तक न सुना था। पढ़ने की बात तो दूर है। यह तब की बात जब किशोरीदास जी के निधन को ज्यादा साल भी न हुए थे।

अपनी किताबों के साथ विश्वविद्यालयों के इस व्यवहार से वाजपेयी जी क्षुब्ध थे। अपनी व्यथा की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा- "परीक्षओं में लगने की बात तो दूर है। कहीं कोई चर्चा नहीं... मेरी सभी पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं को भेजी जाती रहीं पर कभी किसी ने किसी भी पुस्तक का जिक्र तक न किया।"[114] राहुल और रामविलास शर्मा का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि "ये दोनां विद्वान हिन्दी में एम. ए. नहीं है। इसलिए मैं इन दोनों को दिखाई दे गया।"

इन सब स्थितियों पर वाजपेयी जी ने अपना क्षोभ प्रकट करते हुए लिखा- " यास्क ने कई वेद-मंत्र उद्धृत करके अपने 'निरुक्त' में लिखा है कि 'असूयाग्रस्त' को विद्या न देनी चाहिए। असूयाग्रस्त हिन्दी जगत का हिन्दी मे एम.ए. भाग है। इसे मैंने बहुत कुछ दे दिया है अब आगे न दिया जाएगा। देने योग्य स्वास्थ्य भी नहीं है, उत्साह भी नहीं है। मुझे इसकी चिंता नहीं कि लोग कहेंगे 'दे सकता था, पर कमबख्त सब साथ लेकर चला गया!' जहां घमंडी, झगड़ालू और न जाने क्या-क्या कहते हैं वहीं वह सब भी सही।"[115]

उन्होंने हिन्दी जगत की स्थिति को लक्षित करके कहा- "परन्तु इसका मुझे मलाल नहीं, क्योंकि मेरा आलस या उपेक्षा इसका कारण नहीं। इस कमी की पूर्ति न होने कारण हिन्दी जगत की दुष्प्रप्रवृत्ति है।"[116]

वह अस्सी के होने के बाद भी मन ही मन हिन्दी का काव्यशास्त्र लिखने की इच्छा रखे हुए थे पर सुविधाओं के अलावा और बढ़ती आयु की वजह से इसका लिखा जाना मुश्किल था। सम्भवतः ऐसी ही उपेक्षा के शिकार हो संस्कृत के महान् रचनाकार भवभूति ने लिखा था-

यं नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां।
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैषयत्नः।।
उत्पत्स्यते मम् तु कोऽपि समानधर्मा।
कालोऽऽह्यं निरवर्ध्विविपुला च पृथ्वी।।

उनकी गर्वोक्ति थी कि उनका यह काव्य प्रयत्न अरसिकों के लिए नहीं, कोई समानधर्मा कभी अवश्य पैदा होगा जो उनकी कृतियों का मूल्यांकन करेगा। पर वाजपेयी जी की स्थिति बिल्कुल भवभूति की तरह ही न थी। उन्हें इसी जीवन काल के उत्तरार्ध में रामविलास शर्मा जैसे 'समानधर्मा' मिल गए जिन्होंने उनकी कृतियों का उचित मूल्यांकन किया और उनके महत्व को पहचाना। किशोरीदास जी ने रामविलास शर्मा को लिखा भी था- "किसी के गले कोई बात उतरे, चाहे न उतरे मुझे तो आप एक 'समानधर्मा' इसी जन्म में मिल गए। यही मेरा सौभाग्य है।"[117]

वयोवृद्ध होने के बावजूद किशोरीदास जी का मन अभी भी भाषा विज्ञान और व्याकरण की समस्याओं के उधेड़बुन में लगा रहता था। इस संदर्भ में वे अपने इस 'समानधर्मा' मित्र से जीवन के अन्तिम दिनों तक पत्राचार करते रहे। भाषा विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से ये पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अपने 13 नवम्बर 79 वाले पत्र में ही उन्होंने आगे लिखा- 'ग्राम' शब्द पर जो कुछ मैंने लिख भेजा है, मेरा है यास्क का नहीं।

यास्क ने गण शब्द पृथक देकर उसकी व्युत्पत्ति दी है- 'गण' धातु से 'गण्यते हि सः' संख्याधिक्यात।

परन्तु ग्राम शब्द पृथक नहीं दिया है, न कोई व्युत्पत्ति दी है। 'संग्राम' शब्द से 'ग्राम' अलग निकला है। 'सम्' उपसर्ग के साथ 'ग्राम' जोड़कर संग्राम बताया है। 'सम्' का अर्थ आमने-सामने समवेत होना बताया है भिड़न्त के लिए। 'संगतो ग्रामौ'। टीकाकार दुर्गाचार्य ने

लिखा है- ग्राम इति संघात उच्यते। परस्परं जिगीषया समागतौ तत्र भवतः।

यों 'गण' और 'ग्राम' एकार्थक ठहरते हैं आगे चलकर ग्राम छोटी सी बस्ती का वाचक हो गया।[118] और नगर- "जब घूमन्तु ग्राम कही एक जगह बसकर स्थाई रूप से रहने लगे तब उस ग्राम को नगर ग्राम कहने लगे। न-गर- न गलने वाला ग्राम ग्राम-नगर।"

भाषा विज्ञान इतिहास की अनेक समस्याओं का हल ढूंढ़ता है। वैदिक युग में कैसा जीवन था ? वाजपेयी जी कहते हैं- "वैदिक युग में नागरिक जीवन चल रहा था। उससे बहुत पहले किसी समय यायावरी जीवन ही चलता होगा।

इस स्थापना की पुष्टि इससे होती है कि वैदिक युग में 'गृह' शब्द प्रचलित था, उसी तरह जैसे आज 'घर' हिन्दी में है। वह 'गृह' संस्कृत में ही है और बीच की भाषाओं में भी, भले ही रूपांतरित होकर।" घूमन्तु जनों का कोई 'घर' नहीं होता। गृह की व्युत्पत्ति निरूक्त में दी गई है- 'सर्वाणि वस्तुनि गृह्याति' सब कुछ ग्रहण करता रहता है।

गृह नामान्युराणि द्वाविंशति' लिखकर आगे यास्क ने 'गृह' के बाइस पर्याय दिये हैं। गयः, कृदर, गर्त, हर्म्य, अस्त आदि। इन वैदिक नामों में से गृह, हर्म्य, शरण, ये तीन नाम संस्कृत में भी हैं यद्यपि हर्म्य प्रासादों के लिए रूढ़ हो गया हैं।"[119]

वैदिक युग में अन्य आर्यभाषाएँ भी रही होंगी। कैसे- 'ऋग्वेद' में एक शब्द 'बेकनाट' आया है। इसका अर्थ है सूदखोर 'कुशीद जीवी'। इसमें 'बे' संख्यावाचक शब्द है 'दो' के अर्थ में। वेदभाषा में तथा संस्कृत में अन्यत्र 'दो' के अर्थ में 'बे' शब्द नहीं आया है। सर्वत्र 'हि' प्रातिपदिक के रूप् में है। सिन्धी भाषा में दो के लिए 'बे' शब्द चलता है.... जिस भाषा में वेद रना हैद्व उससे भिन्न किसी भाषा की यह 'बेकनाट' शब्द ले लिया गया जान पड़ता है, क्योंकि ऋग्वेद में भी अन्य कहीं बे का प्रयोग नहीं है।..... सो विचारणीय 'बेकनाट', 'तितउ' आदि भी हैं इससे वैदिक युग में अनेक आर्य भाषाओं की स्थिति समझ में आती है।"[120]

'बेकनाट' शब्द पर विचार का यह सिलसिला आगे पत्रों में भी जारी रहता है। 21 दिसम्बर 79 के पत्र में वे कहते है- 'बारह' आदि यौगिक शब्दों में तो ब है ही साथ ही अवधी तथा ब्रजभाषा के पुराने काव्यों 'दो' के अर्थ में 'बिबि' शब्द आया है। स्वंतत्र संख्या- वाचक 'बिबिलोचन'[121]

"बे' के बारे में यह ध्यान देने योग्य बात है कि दिल्ली से सिंध तक की उन सभी भाषाओं में 'दा' की जगह बे शब्द चलता है- यानी आर्य भाषाओं की इस पश्चिमी धारा में 'बे' के साथ अन्य बातें भी समान हैं।"[122]

ये पत्र इस बात को स्पष्ट करते हैं कि किशोरीदास जी में अंतिम दिनों तक बौद्धिक शिथिलता न आ पाई थी। रामविलास शर्मा, राहुल जी, दिनकर आदि को छोड़ दे तो हिन्दी के अध्किांश मठाधीशों ने उनकी उपेक्षा ही की। इसके बावजूद इस उम्र में भी वह सक्रिय थे। वाजपेयी जी का बिगड़ता स्वास्थ्य उन्हें कोई बड़ा काम करने की इजाजत न दे रहा था। अधिक देर तक काम करने पर उनका सिर चकराने लगता था। भूख एकदम नहीं लगती थी, पेट की खराबी बढ़ जाती थी और वह ज्यादा दिनों तक चलती रहती थी। शारीरिक व्याधियों के अलावा मानसिक चिंताएँ भी कम न थीं।

वाजपेयी जी अपनी इन परेशानियों जूझते हुए उनसे निजात पाने की कोशिश करते। वाजपेयी जी के ऊपर कई बार उनके संस्कार भी हावी हो जाते। ऐसे में वह कभी अध्यात्म चिंतन करते तो कभी काम में मन लगाने की कोशिश करते। रामविलास जी ने सही लिखा- "वाजपेयी जी की चेतना दो स्तरों पर काम करती थी, एक स्तर वह था जहां वह रूढ़ियां तोड़ रहे थे।"[123] बीमारी और चिंताओं से राहत पाने का एक रास्ता अध्यात्म भी था। उन्होंने रामविलास जी को लिखा- "आपका तो विश्वास नहीं है, पर मैं अनुभव करता हूँ कि कुछ अध्यात्म चिंतन मदद करता है। किसी काम में लग जाना भी मदद करेगा।"[124]

वाजपेयी जी के भीतर ये रूढ़ियां उनके संस्कारों के कारण थीं। वे अपने भीतर की इन रूढ़ियों से भली-भांति परिचित थे। उन्होंने लिखा- "मैं जन्मना समाजवादी हूँ पर संस्कार दूसरे भी हैं।"[125] वे अपने भीतर के इस रुझान से परिचित थे और कहते थे कि- "जैसा कि सभी बंधु जानते हैं कि मैं बहुत कुछ पोंगापंथी भी हूँ।" वाजपेयी जी का यह रुझान कभी-कभी ही प्रकट होता था। इसी रुझान की वजह से ही उन्होंने एकाध बार गो रक्षार्थ प्रदर्शन में भाग लेने का इरादा भी बना डाला। वह अपने इन संस्कारों से जीवन भर संघर्ष करते रहे।

अपने इन विचारों की वह स्वयं लानत-मलामत भी कम न करते थे। 1961 में कलकत्ता में हुए आने अभिनंदन समारोह में उन्होंने कहा भी था कि- "यह क्रांति का युग है। सर्वत्र क्रांतिकारी विचार अभिनंदित होते हैं- और दकियानूसी विचार अभिनिंदित होते हैं। जग जाहिर है कि मेरे कई विचार दकियानूसी हैं और अब वे बदलेंगे क्या ! ऐसे दकियानूसी विचार रखने वाले का भी अनुल सम्मान उन साम्यवादी (कम्युनिस्ट) विचार के विद्वानों ने किया है जो अपने तर्क और बुद्धिवाद के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हैं जैसे महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रामविलास शर्मा और अलेक्सांद्र बरखुदारोव (मास्को) आदि।"[126]

राहुल जी, रामविलास शर्मा और बरखुदारोव ने उनके दकियानूसी विचारों का सम्मान न किया था। भाषा को ईश्वर की सृष्टि न मानने वाले वाजपेयी जी दकियानूसी न थे पर उनके संस्कार कुछ दूसरे भी थे। यही संस्कार कभी-कभी वाजपेयी जी को रूढ़ियों की ओर भी ठेल ले जाते थे। हरिद्वार में नागा साधुओं के खिलाफ जुझारू आंदोलन करने वाले वाजपेयी जी ने भाषा विज्ञान व व्याकरण के क्षेत्र में जो कार्य किया था वह निस्संदेह क्रांतिकारी था। शताब्दियों से चले आ रहे ढांचे को एक सिरे से उलट देना बहुत साहस का काम है। हिन्दी को संस्कृत की पुत्री मानने से इंकार करना, भाषा को ईश्वर-कृत न मानना, वेदों में जनभाषा

खोजना, ऋग्वेद के गाथा छन्द को देहाती मानना, वेदों के पहले भी भाषा और साहित्य के अस्तित्व को मानना क्रांतिकारी कार्य नही तो और क्या है ?

रामविलास जी ने उनके इस अभिनंदन समारोह के धन्यवाद भाषण का जिक्र करते हुए कहा कि- "वाजपेयी जी के अनेक विचार दकियानूसी होंगे यह बिल्कुल संभव है क्योकि विचारों में काला-सफेद जैसा स्पष्ट भेद कम देखा जाता है।" पर उन्होंने उनके भाषा शास्त्र के क्षेत्र में किए गए काम को उत्कृष्ट क्रांतिकारी कार्य मानते हुए उनकी ईश्वर, प्रकृति और मानव जीव के संबंध में धारणाओं को भी समाजवादी विचारधारा के निकट ले जाने वाला माना।

वाजपेयी जी कर्तव्य शास्त्र को ही धर्मशास्त्र मानते हैं। रामविलास शर्मा इस संदर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' को उद्धृत करते हुए कहते हैं- "धर्म का संबंध बाजपेयी जी अध्यात्म अथवा अगोचर तत्व से नहीं बिठाते। इन तत्वों को वे दर्शन का अंग समझते हैं। धर्म उनके लिए केवल आचार है, केवल सामाजिक कृत्य है।"[127] इस संदर्भ में दिनकर जी ने बाजपेयी जी के ही शब्द उद्धरित किए हैं- "धर्म तो लौकिक चीज है। कर्तव्य शास्त्र का ही नाम धर्मशास्त्र है। 'तुम्हारा धर्म क्या है और 'तुम्हारा कर्तव्य क्या है' एकार्थक वाक्य है।"[128] सन्यास के बारे में वाजपेयी जी क्या कहते हैं- "आलसी और कायर लोग 'जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन सन्यास ले लें' कह कर अपने आप को और जनता को धोखा देते हैं।"[129]

स्पष्ट है वाजपेयी जी दकियानूस न थे। वह उनके संस्कार थे जो कभी-कभी उनके भीतर पुनरुथानवादी विचारों का कारण बनते थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने सच ही उनके भाषा-संबंधी कार्य को आज की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए अतिशय महत्वपूर्ण मानते हुए उन्हें भारत और संसार के दकियानूसों के लिए खुली चुनौती कहा।

वाजपेयी जी हिन्दी के व्रती थे। यही कारण है कि इतनी उलझनों से जूझने पर भी और अस्सी से ऊपर की आयु हो जाने के बाद भी वह पत्र-पत्रिकाओं में लेख व संस्मरण लिख रहे थे। इस उम्र में भी बहुत कुछ योजनाएँ उनके मन में थीं। वे कुछ राष्ट्रीय विभूतियों पर किताबें लिखना चाहते थे। काव्यशास्त्र लिखने की साध भी मन में थी पर उम्रजयादा हो चली थी और यह संभव भी न था। दिमाग पर ज्यादा जोर देना खतरे से खाली न था। लोगें की उपेक्षा से भी उनका मन मर चुका था। उन्होंने खिन्न होकर कहा भी- "लोग कहेंगे कि आप को विषपान करके भी अमृत देना था। उपेक्षा की परवाह न करके भी हिन्दी की दुर्लभ सेवा करना था- काव्य शास्त्र देना ही था परन्तु इस उपदेश की मुझे आवश्यकता नहीं। वैसे उपेक्षा सह कर भी व्याकरण तथा भाषा विज्ञान मैंने दे दिया है। कलम अभी तक 84 पर पहुचने तक भी शक्तिहीन नहीं हुई है परन्तु उस उत्साह को यह भावना दबा देती है कि कृतघ्न इस देख में बहुत हैं।"[130]

काव्यशास्त्र लिखने का अनुरोध लोग बहुत दिनों से कर रहे थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो 'काव्यानुशासन' नाम भी सुझाया था। 'हिन्दी शब्दानुशासन' के प्रथम संस्करण में द्विवेदी जी ने 'इस व्याकरण में पहली बार व्याकरण के तत्व दर्शन का स्वरूप् स्पष्ट होने' की बात लिखी थी। वह चाहते थे कि जैसा व्याकरण दिया वैसा ही काव्य शास्त्र भी देना चाहिए। यह बात वे वाजपेयी जी से कई बार कह चुके थे पर वाजपेयी जी अपनी पिछली ही कृतियों की उपेक्षा से खिन्न थे। यह खिन्नता 'कादम्बिनी' में उनके अन्तिम वर्षों के दौरान लिखे गए संस्मरणों में व्यक्त होती है। उन्होंने लिखा भी- "1960 में जब हिन्दी वालें की आम उपेक्षा अपनी कृतियों की ओर देखा तो मन भर गया। जब लोग व्याकरण और भाषा विज्ञान ही नहीं समझते या समझकर भी नासमझ बनते हैं। उन्हें काव्य शास्त्र देकर अपनी मूढ़ता क्यों प्रकट की जाए ! यह ठीक है कि मूर्धन्य विद्वानों ने मेरे द्वारा उद्भाषित शब्दशास्त्र (व्याकरण और भाषा विज्ञान) की दिल खोलकर प्रशंसा की परन्तु हिन्दी का सामन्य विद्वन्मंडल असूयाग्रस्त ही रहा। यही कारण है कि हिन्दी को मेरी सर्वोत्तम कृति (काव्यशास्त्र) से वंचित होना पड़ा।"[131]

वाजपेयी जी अपना मुख्य विषय भी काव्य शास्त्र ही मानते थे। 'हिन्दी शब्दानुशासन' और 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसी ही किताब काव्य तत्व पर भी देने की उनकी योजना थी। उन्होंने एक पत्र में अपनी इस योजना का विवरण देते हुए लिखा-"काव्य तत्व पर अब लिखना है। अच्छा ग्रंथ बनेगा, 600 पृ. का। यही मेरी अपना विष्य है। इस विषाय में मेरे अपने मनन-विचार हैं।"[132]

रामविलास शर्मा और अन्य लोगों को समय-समय पर लिखे इन पत्रों में काव्य -शास्त्र लिखने की इच्छा उन्होंने जगह-जगह प्रकट की है। वाजपेयी जी की यह इच्छा निरंतर उलझनों से घिरे रहने के कारण पूरी न हो पाई। प्रारंभ में किशोरीदास जी काव्यालोचक के तौर पर ही प्रसिद्ध हुए थे। बिहार के विद्वान साहित्याचार्य भव ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर कई पद्यों में उनकी प्रशस्ति लिखी थी। उन्होंने अपने पद्य में 'नौमि किशोरीदासं, दासोऽहं यस्य प्रतिभायाः' जैसी टिप्पणी भी की थी। बाद में व्याकरण तथा भाषा विज्ञान के क्षेत्र में सक्रिय होने से वाजपेयी जी इस क्षेत्र में आगे ज्यादा काम न कर सके। यह अवश्य है कि जबलपुर विश्वविद्यालय ने काव्य शास्त्र पर वाजपेयी जी के तीन लंबे व्याख्यानों का आयोजन कराया था। वाजपेयी जी के ये व्याख्यान अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने इन व्याख्यानां में काव्य का लक्षण, वर्गीकरण, आस्वादद्व ध्वनि, रस तथा कवि समय पर विवेचन करते हुए बहुत जरूरी बातें कही थीं और अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया था।

वाजपेयी जी इन तीन व्याख्यानों काव्य शास्त्र संबंधी उनकी किताब लिखने योजना की आंशिक पूर्ति अवश्य की पर फिर भी हिन्दी को पूरा काव्य शास्त्र देने की योजना उनके मन में ही रह गई। उन्होंने लिखा भी- "व्याकरण, भाषा विज्ञान और काव्य शास्त्र ये तीनों ही

शब्द शास्त्र हैं। हिन्दी को व्याकरण मिल गया, भाषा विज्ञान मिल गया पर काव्य शास्त्र नहीं मिल पाया। यद्यपि तीसरे (सबसे ऊँचे) नम्बर पर काव्य शास्त्र है। इसी का निर्माण की मैंने पहले सोची थी परंतु जब देखा कि अभी तो आरंभिक शब्द शास्त्र (व्याकरण) ही हिन्दी में नही तब उसमें लग गया। पहले भवन तो बन जाए फिर उसकी साज-सज्जा। व्याकरण के साथ भाषा विज्ञान भी आ गया। अब 81वां वर्ष पूरा कर रहा हूँ। न वह शक्ति है न उत्साह। परंतु उसका मुझे मलाल नहीं, क्योंकि मेरा आलस या उपेक्षा इसकारण नहीं। इस कमी की पूर्ति न होने कारण है हिन्दी जगत की दुष्प्रवृत्ति।''[133]

बाजपेयी जी की किताबों की चर्चा करते समय अक्सर उनकी 'लेखन कला', 'साहित्य निर्माण', 'साहित्य मीमांसा', 'काव्य और काव्य शास्त्र', अच्छी हिन्दी', 'आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी', द्वापर की राज्य क्रांति' जैसी किताबों का नाम छूट जाता है क्योंकि ज्यादा जोर भाषा विज्ञान और व्याकरण संबंधी किताबों पर ही होता है। मेरी यह बात कहने का सीधा आशय यही है कि वाजपेयी जी का इतर लेखन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

'लेखन कला' और 'साहित्य-निर्माण' जैसी पुस्तकें अपने विषय की विशिष्ट महत्व की पुस्तकें हैं। वाजपेयी जी ने जिस समय 'लेखन कला' लिखी थी वह इस विषय पर लिखी गई दूसरी पुस्तक थी। पहली पुस्तक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की थी। वाजपेयी जी की पुस्तक का महत्व स्पष्ट करते हुए विष्णु दत्त राकेश ने लिखा है- ''परिव्राजक जी ने आन्द्रे मरिस कृत 'दी आर्ट ऑफ राइटिंग' (1915 ई.) तथा वाल्टर रेहेल कृत 'दी आर्ट ऑफ राइटिंग एंड राइटर्स' (1916) पुस्तकों से प्रेरणा लेकर अपनी पुस्तक लिखी। ...पुस्तक की पद्धति भी अंग्रेज लेखकों के अनुरूप् है, स्वामी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने इसे अपरीका की प्रसिद्ध युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो के विद्वान अध्यापकों के सहारे लिखा है।''134 पर वाजपेयी जी के साथ यह बात न थी। वाजपेयी जी ने अपनी इस पुस्तक में वाक्य रचना, सजीव भाषा तथा भाव, भाषा में विजातीयता, निबंध, कविता, कहानी आदि के लेखन पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है।

महत्व की दृष्टि से 'साहित्य-निर्माण' भी अपने ढंग की जरूरी पुस्तक है। इस पुस्तक में वाजानेयी जी ने संस्कृत की प्रसिद्ध कृतियों 'काव्य प्रकाश' 'साहित्य-दर्पण', 'रस -गंगाधर आदि की मान्याताओं का खंडन किया है। शब्द-प्रयोग, काव्य की श्रेष्ठता आदि का इसमें भली-भांति विवेचन किया गया है। 'साहित्य-दर्पण' का जिक्र करते हुए किशोरीदास जी के शिष्य और संस्कृत-हिन्दी के विद्वान विष्णु दत्त राकेश ने लिखा- ''व्यावहारिक आलोचना निदर्शन की दृष्टि से प्राचीन पद्धति का प्रति संस्कार शीर्षक प्रकरण, ग्रंथ का प्राण है जहां हिन्दी-संस्कृत के उत्कृष्ट पदों की समीक्षा कर रसास्वाद ग्रहण की भरतीय पद्धति समझाई गई है। 'द्वापर की राज्य क्रांति' जैसे पौराणिक नाटक में किसा-मजदूर राज्य की कल्पना करने वाले वाजपेयी जी के संस्मरण भी हिन्दी संस्मरण साहित्य की अमूल्य थाती की तरह है।''

लेकिन जब 'हिन्दी शब्दानुशासन' और 'भारतीय भाषा विज्ञान' जैसी कृतियों से ही लोग अपरिचित हैं तो वाजपेयी जी की इन कृतियों की कौन पूछ-परख करे। लक्ष्मी के इस युग में सरस्वती का सम्मान वैसे भी घटा ही है। हिन्दी ककी यह खूबी है कि वह प्रतिभा के तेज को झेल नहीं पाती। हिन्दी के लोग सुविधाएँ देना तो दूर की बात है उल्टे अवरोध खड़ा करना अपनी खूबी मानते हैं। हिन्दी के तथाकथित कर्णधारों ने हिन्दी के नाम पर अंधाधुंध पैसे खर्च किए पर किशोरीदास जी की किताबों के प्रचार-प्रसार हंतु एक धेला भी खर्च न किया। वाजपेयी जी का यह कहना जायज है- ''काव्य शास्त्र लिख सकता था और कुछ और भी लिख सकता था परंतु उस समय तक लोगों ने सरस्वती की उपेक्षा की। - रामविलास शर्मा के अतिरिक्त और किसी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' पर कहीं कुछ लिखा-छपाया।''[135]

यह बात सही है कि किशोरीदास का महत्व डॉ.. रामविलास शर्मा की आँखों से कभी ओझल न हुआ। 1959 में प्रकाशित अपने पहले लेख से लेकर अपनी ताजा प्रकाशित आत्मकथा त कवह कभी किशोरीदास जी को न भूले। भाषा विज्ञान की अप्रतिम कृति 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' में 'भारतीय व्याकरण-परम्परा और ऐतिहासिक भाषा विज्ञान' के संदर्भ में वाजपेयी जी को याद करते हुए वह लिखते हैं- ''भारत की व्याकरण-परम्परा संसार की प्राचीनतम व्याकरण परम्परा है। वह जितनी प्राचीन है, उतनी ही नवीन है क्योंकि वह गति रुद्ध, रूढ़िग्रस्त परम्परा बनकर नहीं रह गई। उसमें रूढ़ियों को तोड़ने और पूंजीवादी भाषा-विज्ञान लांघने की क्षमता है, इसक प्रमाण हिन्दी शब्दानुशासन है।.... भारत में अंग्रेजी राज कायम न होता तो भी हिन्दी शब्दानुशासन होता। अष्टाध्यायी न होती तो भी पाश्चात्य भाषा विज्ञान अपने आधुनिक रूप में विकसित होता, इसमें संदेह हैं।''[136] अपनी ताजा प्रकाशित आत्मकथा में भी वाजपेयी जी के अध्ययन के महत्व पर बल देते हुए वह लिखते हैं- ''पाणिनी और दामोदर पंडित की तरह, भारत की व्याकरण परम्परा में किशोरीदास वाजपेयी का महत्व है।...पाणिनी के महत्व पर विदेशी विद्वानों ने काफी लिखा, लेकिन किशोरीदास वाजपेयी पर किसी ने नहीं लिखा।''[137]

हिन्दी जगत की इसी उपेक्षा से उत्पन्न खीझ ने उनकी काम करने की क्षमता पर भी प्रभाव डाला। उपेक्षा से उत्पन्न खीझ, परेशानियों में उलझे होने और बिगड़ते स्वास्थ्य ने उन्हें वह सब न करने दिया जो वह कर सकते थे। लोगों द्वारा ध्यान न देने की बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने एक जगह कहा भी- ''किसी की सब इच्छाएँ पूरी कर लेना मेरे हाथ में था- कलम और कागज। परन्तु वह सब समय हिन्दी वालों को यह सिखाने में लग गया कि 'अन्ताराष्ट्रिय गलत है, अंतर राष्ट्रीय शुद्ध-सही शब्द है। मन में बड़ा दुःख यह है कि हिन्दी के इस झमेले में मेरी वह इच्छा तो रह गई; पर अन्ताराष्ट्रिय गया नहीं और अधिक

झमेला बढ़ गया। आकाशवाणी 'अन्ताराष्ट्रिय' का प्रचार संस्कृत समाचारों के द्वारा कर रही है।... इस झंझट में लगा-उलझा रहा और कई अच्छे काम न कर पाया। अब तो 82वां पूरा हो रहा है।"

उन्हें झंझटों में फंसने का तीव्र असंतोष था पर यह काम भी जरूरी था। हिन्दी की वर्तनी को लेकर यह हमेशा जागरूक रहे। वह जीवन के आखिरी दिनों तक 'नवभारत टाइम्स' के चिट्ठी पत्री वाले कॉलम में वर्तनी की समस्याओं और उसके उचित प्रयोग के बारे में लिखते रह। वह युवा पीढ़ी को कुछ भी गलत दिया जाना बर्दाश्त न करते थे। विश्वनाथ त्रिपाठी वाजपेयी जी के गहरे प्रशंसकों में हैं। त्रिपाठी जी का एक संस्मरण कुबेरदत्त ने दिया है जिससे वाजपेयी जी का हिन्दी के प्रति अगाध निष्ठा का गहरा परिचय मिलता है। वह प्रकरण यह है- "भाषा विज्ञान के किसी विषय पर दिल्ली के किरोड़ीमल कालेज में उनका व्याख्यान होना था। किसी अखबार के 'आज' किस्म के कॉलम में व्याख्यान की खबर पढ़कर कनखल से पहली बस पकड़कर वाजपेयी जी दिल्ली पहुंच गए। ढूंढ़ते-ढाढ़ते किरोड़ीमल कॉलेज भी पहुंच गए। मंच पर विराजमान् 'विभूतियों' ने जब देखा कि बेंत संभाले किशोरीदास साक्षात् उपस्थित हैं तो उनके कपडत्रे ढीले होने लगे। डॉ.. भोलानाथ तिवारी तब तक बोलने के लिए खड़े हो चुके थे...कुछ देर बोल भी चुके थे... कि हॉल में बिजली सी कड़की- 'चोप्प ! अज्ञान बघारना बंद करो.... अनपढ़ हो तुम.... नयी पीढ़ी को क्या बाँट रहे हो ?' डा. भोलानाथ तिवारी सिट्टी-पिट्टी गुम...!"[138]

अपने इन्हीं कामों मे उलझे होने और योजनाओं पर काम न कर पाने की पीड़ा की झलक उनकी इन पंक्तियों मे मिलती है-

सोचा मैंने उषः काल में
मां के भुवन सजाऊँ
अभिनव अर्थ उपस्थित करके
(क्या-क्या कुछ भेंट चढ़ाऊँ)
किन्तु भक्त पद प्रक्षेपों से
धूल यहां भर आई
रहा बुहार उसी को तब से
यों सब उम्र गंवाई।[139]

वाजपेयी जी को बहुत कुछ काम न कर पाने की पीड़ा अवश्य थी पर उन्होंने अपनी उम्र ऐसे ही नहीं गंवाई थी। इन सबके बावजूद उन्होंने हिन्दी को अनेक मूल्यवान् कृतियां दीं। उनकी प्रकाशित कृतियों की संख्या 28 से ऊपर है।

यह अवश्य है कि उनकी उपेक्षा हुई पर उन्होंने सम्मान भी पाया। जिनसे सम्मान मिला खूब मिला। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यूंही ही उन्हें एक पत्र में हिन्दी भाषा के परिष्कार के लिए सतत चौकसी का दायित्व व अपने समर्थ उत्तराधिकारी की बात नहीं कही थी। उन्हें वाजपेयी जी की क्षमता पर पूरा विश्वास था। आजादी के पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , हरिऔध, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, अमरनाथ झा जैसी प्रतिभाएं इनकी प्रशंसक थी तो आजदी के बाद भी डॉ.. रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर जैसे लोग वाजपेयी जी की प्रतिभा के हमेशा कायल रहे, राहुल जी तो खैर अपने अंतिम क्षणों तक किशोरीदास जी को याद करते रहे। वाजपेयी जी ने एक जगह लिखा भी- "सम्मान भी वह मिला है, जो आज तक किसी भी साहित्यकार को अपने जीवनकाल में नहीं मिला। इससे अधिक और साहित्यिक सफलता क्या है ?" गुणीजनों से प्यार और सम्मान पाना ही विद्वान की सबसे बड़ी अभिलाषा होती है। किशोरीदास जी को यह मिला और खूब मिला। वाजपेयी जी को किसी बात से कहीं आत्मसंतोष था तो वह इसी बात से था।

जीवन के आखिरी दिनों में दूरदर्शन ने उन पर एक वृत्तिचित्र का निर्माण किया। वाजपेयी इससे संतुष्ट थे। उनके काम को स्वीकृति मिलने लगी थी। उन्होंने 9 जून 81 के पत्र में डॉ. रामविलास शर्मा को सूचना दी- "दिल्ली दूरदर्शन मेरे संबंध में (एक घंटे की) फिल्म बना रहा है।... आपको इसमें अवश्य हुआ। ऐसी स्थिति में एक क्षण के लिए भी आपका उनसे अलग होना घातक सिद्ध होगा। दूरदर्शन वाले दिल्ली से आगरे पहुंचकर वहीं आपसे भेंट करेंगे।"[140] यह डॉ. रामविलास शर्मा को लिखा गया उनका आखिरी पत्र था। 12 अगस्त 1981 को हिन्दी की यह विश्वकोटि की प्रतिभा चल बसी।

यह अच्छा ही हुआ कि कुबेरदत्त उनके निधन के पूर्व ही उनके व्यक्तित्व व कृतिव पर दूरदर्शन के लिए तीन खण्डों मे एक वृत्तिचित्र 'सरस्वती पुत्र का निर्माण कर चुके थे। यह वृत्तिचित्र दूरदर्शन की अमूल्य निधि है। इस वृत्तिचित्र के निर्माण के दौरान कुबेरदत्त लगभग एक सप्ताह कनखल में रहे और उन्होंने वाजपेयी जी के जीवन को नजदीक से देखा। वह लिखते हैं- "इस उम्र में भी उनकी दिनचर्या और लेखन-मनन-अध्ययन सब नियमित थे।"[141] आज भी किशोरीदास जी का लिखा हुआ बहुत कुछ पुरानी पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। अनेक लोगों के पास उनके पत्र होंगे। यह आवश्यक है कि उनकी इस सामग्री को खोज-बटोरकर एक जगह प्रकाशित किया जाए। यही हिन्दी के इस महान् वैयाकरण के प्रति हमारा सच्चा सम्मान होगा।

संदर्भ-सूची

1. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 1, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
2. वही, पृष्ठ- 6
3. वही, पृष्ठ-6
4. कादम्बिनी, मई 1977, पृष्ठ 62
5. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 3, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी)
6. वही, पृष्ठ 2-3
7. प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ समिति, टीकमगढ़, पृष्ठ 25
8. वही पृष्ठ 25
9. साक्षात्कार, रामचन्द्र शुक्ल विशेषांक, संपादक- सोमदत्त, अगस्त-नवम्बर 1984, पृष्ठ 79

10. विराम चिन्ह- रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 295-296
11. जब्त व्याकरण 'रस और अलंकार' की जब्ती के कारण : रामकृष्ण, उत्तरप्रदेश, जब्तशुदा साहित्य विशेषांक: अगस्त 97, पृष्ठ 50-51
12. जिनके साथ जिया: अमृतलाल नागर, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1991, पृष्ठ 95
13. हिन्दी शब्दानुशासन- किशोरीदास वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृष्ठ 68
14. वही, पृष्ठ 60
15. अभिनव पाणिनी, किशोरीदास वाजपेयी, कुबेरदत्त, कथादेश, जनवरी 1998, पृष्ठ 26
16. अभिनव पाणिनी: आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, कुबेरदत्त, कथादेश, मार्च 1998, पृष्ठ 5
17. कादंबिनी- मई 77, पृष्ठ 66
18. कथादेश, फरवरी 98, पृष्ठ 47
19. तीन महारथियों के पत्र- रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 180
20. हिन्दी शब्दानुशासन: किशोरीदास वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, पृष्ठ 7
21. वही, पृष्ठ 1
22. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981, पृष्ठ 190
23. हिन्दी शब्दानुशासन: किशोरीदास वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, पृष्ठ 1
24. वही, पृष्ठ 1
25. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981, पृष्ठ 191
26. हिन्दी शब्दानुशासन: किशोरीदास वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, पृष्ठ 90
27. वही, पृष्ठ 93
28. वही, पृष्ठ 17
29. वही, पृष्ठ 38
30. वही, पृष्ठ 83
31. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981, पृष्ठ 192
32. वही, पृष्ठ 43
33. वही, पृष्ठ 80
34. वही, पृष्ठ 185
35. परम्परा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981, पृष्ठ 189
36. वही, पृष्ठ 190
37. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 46
38. हिन्दी शब्दानुशासन- दूसरे संस्करण पर लेखक का निवेदन, पृष्ठ 1
39. भाषा और समाज- रामविलास शर्मा, दूसरा संस्करण 1977, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 170
40. वही, पृष्ठ 11-12
41. वही, पृष्ठ 14
42. परम्परा का मूल्यांकन पृष्ठ 192
43. भाषा और समाज, पृष्ठ 161
44. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ. 9
45. वही, पृष्ठ 29
46. वही, पृष्ठ 29
47. वही, पृष्ठ 29
48. वही, पृष्ठ 145
49. वही, पृष्ठ 146, 147
50. हिन्दी शब्दानुशासन- पृष्ठ 591
51. भारतीय भाषा विज्ञान: आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृष्ठ -7
52. वही, पृष्ठ 8
53. वही, पृष्ठ 8
54. भारतीय भाषा विज्ञान: पृष्ठ 89
55. वही, पृष्ठ 89
56. वही, पृष्ठ 89
57. वही, पृष्ठ 91
58. वही, पृष्ठ 91
59. वही, पृष्ठ 78
60. वही, पृष्ठ 78
61. वही, पृष्ठ 78
62. वही, पृष्ठ 79
63. वही, पृष्ठ 26
64. वही, पृष्ठ 26
65. वही, पृष्ठ 101
66. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी-खंड एक- रामविलास शर्मा, संस्करण 1979, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 14
67. भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ 82
68. वही, पृष्ठ 28
69. वही, पृष्ठ 97
70. वही पृष्ठ 145
71. वही, पृष्ठ 145
72. वही, पृष्ठ 146
73. हिन्दी निरुक्त- आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण 1998, पृष्ठ 7
74. हिन्दी शब्दानुशासन - पृष्ठ 4
75. वही, पृष्ठ 1
76. भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ 211
77. वही, पृष्ठ 221-222
78. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 83
79. वही, पृष्ठ 83
80. वही, पृष्ठ 84
81. वही, पृष्ठ 85
82. वही, पृष्ठ 86
83. भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ 222
84. वही, पृष्ठ 222
85. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 92)

86. भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ 87)
87. भारतीय भाषा विज्ञान, पृष्ठ 9)
88. तीन महारथियों के पत्र- रामविलास शर्मा, पृष्ठ 162
89. वही, पृष्ठ 159
90. संदर्भ स्रोतः राहुल वाङ्.मय, खण्ड- एक- जिल्द 4, प्रथम संस्करण 1994, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 594
91. विराम चिन्ह, रामविलास शर्मा, पृष्ठ 295
92. जिनके साथ जिया, अमृतलाल नागर, पृष्ठ 94
93. 19-2-62 का पत्र, तीन महारथियों के पत्र, पृष्ठ 156
94. 21-2-62 का पत्र डॉ. रामविलास शर्मा को, तीन महारथियों के पत्र, पृष्ठ 159
95. वही, पृष्ठ 159
96. 19-2-63 का पत्र, तीन महारथियों के पत्र, पृष्ठ 163
97. वही, पृष्ठ 163
98. वही, पृष्ठ 163
99. वही, पृष्ठ 174
100.18-3-67 का पत्र, वही, पृष्ठ 182
101.हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द-विश्लेषण: आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, संस्करण 1997, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 47-48
102.वही, पृष्ठ 50
103.वही, पृष्ठ 47
104.वही, पृष्ठ 10
105.हिन्दी निरुक्त, पृष्ठ 16
106.हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 600
107.हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द विश्लेषण, पृ. 39
108.तीन महारथियों के पत्र, 13 मई 71, पृष्ठ 194
109.वही, पृष्ठ 186
110.डॉ. रामविलास शर्मा को 18 जुलाई 74 का पत्र, तीन महारथियों के पत्र, पृष्ठ 197
111.रामविलास शर्मा को 13-12-62 का पत्र, वही, पृष्ठ 165
112.8-6-67 का पत्र, वही, पृष्ठ 184
113.हंस, फरवरी 99
114.कादम्बिनी, जनवरी 78
115.वही, पृ. 49
116.वही, पृष्ठ 49
117.13 नवम्बर 79 का पत्र, तीन महारथियों के पत्र, पृष्ठ 208
118.वही, पृष्ठ 208
119.वही, पृ. 207
120.11 नवम्बर 79, वही पृष्ठ 79
121.वही, पृष्ठ 209
122.वही, पृष्ठ 210
123.वही, पृष्ठ 21
124.30-10-75 का पत्र, वही, पृष्ठ 197
125.27-11-63, वही, पृष्ठ 153
126.विराम चिन्ह, पृष्ठ 296
127.वही, पृष्ठ 297
128.वही, पृष्ठ 297
129.वही, पृष्ठ 297
130.कादम्बिनी, अक्तूबर 80, पृष्ठ 61
131.कादम्बिनी, अक्टूबर 80, पृष्ठ 61
132.रामविलास शर्मा को 15-7-62 का पत्र, तीन महारथियों के पत्र, पृ. 160
133.कादम्बिनी, जनवरी 78, पृष्ठ 49
134.अतएव, जुलाई-अगस्त 1990, पृष्ठ 226
135.कादम्बिनी, जन. 78, पृष्ठ 49
136.भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, खंड 3, प्र. सं. 1981, पृष्ठ 305
137.अपनी धरती-अपने लोग, पृष्ठ 130, किताबघर, दिल्ली
138.कथादेश, दिसम्बर 1997, पृ. 22
139.संदर्भ-नामवर सिंह का का लेख- मैं, मेरा समय और रचना-प्रक्रिया, साक्षात्कार, सितं. अक्टू. 89, पृष्ठ 14
140.तीन महारथियों के पत्र, पृष्ठ 217
141.कथादेश मार्च 98, पृष्ठ 50

आलोक कुमार चक्रवाल

कुलपति
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

प्रोफेसर आलोक कुमार चक्रवाल की कविताओं में स्मृतियों का एक भरा पूरा संसार है। जिनमें ऐसी आत्मीय और मनोरम छवियाँ गाहे-ब-गाहे अक्सर कौंध जाया करती हैं। दरअसल भौतिक दृष्टि से आज के संपन्न जीवन में इन स्मृतियों के नामो निशान या तो मिटते जा रहे हैं या मिट चुके हैं। वे स्मृतियां अपने आप में एक बड़ी और भावपूर्ण कविता की संभावना हैं। इन स्मृतियों में बचपन के वे दिन हैं जब माँ रोटी पर सरसों के तेल और नमक का एक हल्का मिश्रण लेप कर दे दिया करती थी। आज हमारे घरों में इसकी न तो कोई परिकल्पना रह गई है न संभावना। लेकिन जो इससे गुजर चुके हैं उनके लिए वह भूख के किसी आदिम आस्वाद की तरह स्मरण मात्र से ही घुलने लगता है।

वैसे ही हमारे आसपास गिलहरियों का होना था। दरवाजे के सामने खड़े नीम के पेड़ से लेकर धान फटकती हमारे माँ के आंचल और सूप तक इन गिलहरियों की नटखट चहल पहल हमेशा बनी रहती थीं। ये कविताएं ऐसी अनेकानेक स्मृतियों की छंद हैं जो अपनी सहज अभिव्यक्ति के कारण आपको अपने साथ बहा ले जाएंगी। स्मृति भ्रंश की अवस्था दुनिया के किसी भी देश, किसी भी समाज को समृद्धि के बर्बर रास्ते पर ले जाता है। किसी भी समाज की यह एक रुग्ण और दारुण दशा है। कविताएं इस ओर बहुत शिद्दत से इशारा करती हैं। इस अंक में प्रकाशित आलोक कुमार चक्रवाल जी की यह लंबी कविता और साथ ही कुछ कविताएं जो भले छोटी हों लेकिन इनकी अर्थछवि बहुत दूर तक दिखाई देती है। स्वनिम के चौथे अंक में हम इन कविताओं को विशेष रूप से प्रकाशित कर रहे हैं।

- गौरी त्रिपाठी

मन

मन ही मन में मन खिलता है,
मन में एक मंदिर मिलता है।

मन को मान के मन का मीत,
मन से मन दिखलाता प्रीत।

मन की बात मैं कैसे बताऊं ,
मन का मन मैं किसे दिखाऊँ ?

मन कहता है ठहर जरा तू ,
मन कहता है जरा मचल तू।

मन में एक फुलवारी खिलती,
मन में एक उजियारी सिमटी।

मन से मन को जोड़ के देखा,
मन से मन को मोड़ के देखा।

मन को मन की बातें कहता,
मन से मन की बातें सुनता।

मन तो है एक बूंद की भाँति,
आज यहां कल वहां पर गिरता।

मन से मन की राह निकलती,.......

जुबां

जब जुबां साथ ना दे
जब हौसले साथ ना हों
तो- कहां जाएं ?
किससे कहें ?
और क्या बताएं ?
जिंदगी रोज नए रंग दिखाती है
हर रंग से एक नया रंग बनाती है

रंग बिरंगी दुनिया बनाकर
बड़ा सताती है
सब लूटते हैं रंगों का मजा बेहिसाब
किसे याद रहता है
जब वक्त मांगता है हिसाब
कुछ खलाएं, कुछ अदाएं और कुछ ख्वाब
सब कुछ मिलता है, जिंदगी के मेले में सुबह शाम
मंजिलें रोज बनाता हूं और फिर निकल जाता हूं
मंदिर की मूरत की तरह रोज मिलता हूं
पर कुछ ना कहता हूं
राज कई हैं फ़ाश किए लोगों ने मुझ पर
पर किसी से कुछ भी ना कहता हूं
लगी है प्यास बड़ी देर से, सो प्यासा हूं
कुछ लोग बढ़ा गए थे मेरी प्यास, सो प्यासा हूं
आज हम नहीं कुछ कह पाएंगे
आज वहीं से हम निकल जाएंगे
आज कुछ बात बन ही जाएगी
आज जज्बात मेरे खुद ही निकल आएंगे
यही राज मेरे लब पे अटका
कोई तो है बात जो मेरे दिल मे खटका।

मन और परिंदा

परिंदों की तरह उड़ता है देखो आज मेरा मन।
बड़ी मुश्किल से निकले हैं यह हालात बिन बंधन ॥

मिले हैं लोग अच्छे नाम की खातिर यहां पर सब।
कि सच्चे नाम को आखिर यहां जाना है किसने कब ॥

रुकी थी रात लंबी, उनके आने की उम्मीदों पर।
वहीं पर लोग बैठे थे, जहां टूटे थे सब मंजर ॥

हमारी बात उनसे हो न पाई ये हकीकत है।
उन्हीं की बात करते हैं जहाँ से, ये हकीकत है ॥

अभी उल्फत की बातें छोड़ दो के है यहीं अच्छा।
कभी उलफ़त में जी कर कौन बन पाया नबी सच्चा ॥

रजा हो जब तुम्हारी हम भी दुनिया खुल के देखेंगे।
तेरी दुनिया के हर जर्रे को हम भी खुल के देखेंगे ॥

तेरी हर बात पे करते हैं बातें रहनुमाई की,
तेरी हर रहनुमाई जिंदगी में जी के देखेंगे।

लगी है आग जब उनके जानिब होके जीने की,
उन्हीं की आग में हम खुद को जलवा करके देखेंगे।

खुली है आंख उनकी आरजू में एक मुद्दत से,
उन्हीं की आरजू में ये बिनाई खो के देखेंगे।

गिलहरी

गिलहरी के मृत बच्चे को
आज बीच रास्ते पर देखा
दिल बैठ सा गया
या फिर दिल में
शायद दिल ही ना रहा
गिलहरी के बच्चों का मरना
ठीक नहीं
ये गिलहरियां हमारे जीवन का आधार
कितने ही नए वृक्ष
इन गिलहरियों के
तराशे गए बीज से निकलते हैं।

समझ की समझ

समझो जब समझ में ना आए
बोलो जब शब्द भी चूक जाए
मत बात करो तुम साहस की
डर से निकलो, सब मिल जाए।

कल रात सुहानी लगती थी
कल निशा दीवानी लगती थी
अब सूरज तड़प के निकला है
क्या उसे पता है, क्या था?

कह लोगे तुम भी सच अब तो
सब भुगत भी लोगे हंस हंस के
जब आग लगी हो जंगल में
दरिया की तलब कहां मिटती।

मैं लिखता हूं कुछ शब्द नए
मैं जीता हूं लम्हे-लम्हे
मैं तरस रहा हूं जीवन को
यूं पल छिन जीवन चले गए।

मैं गाता गीत पुराने हूं
मैं शाख से बिछड़ा पंछी हूं
मैं भटक गया हूं इस नभ में
कोई छोर नहीं है जीवन का

कब कहूं मैं बात तुम्हें
कब मिले तुम्हारी रात मुझे
कब व्यक्त करूं मैं अनचाहा
जीवन ने हर पल सिखलाया।
जब बात चली है बातों की

तुम कहते-कहते रुक जाते
मैं सुनते-सुनते खो जाता
यह बात नहीं है औरों की
यह बात तुम्हारी मेरी है।
कोई और यहां पर क्या पाता?

बदलता वक्त

वक्त बदला है
वक्त के साथ सब कुछ बदल रहा है
लोग, लोगों की फितरत
और रवायतें भी

वक्त सब कुछ बदल देता है
तस्वीर और तासीर भी।

वक्त ने बहुत कुछ बदला है
और बदल रहा है
जो नहीं बदला वो वक्त नहीं है
जो बदल गया वो भी वक्त नहीं है

जब सब बदल रहे थे
तब तुम क्यूँ बिन-बदले रह गए
काश के तुम भी बदल जाते
अपनी हकीकत की तरह
तुम्हें भी बदल जाना था।

खयालों और ख्वाबों की
इक दुनिया होती है
ये सिर्फ देखने वाले की
फितरत से बदलती है

वो चाहे तो बदल ले
या फिर ना भी बदले

पर जब सब बदल रहा है
तो ख्वाबों का बदलना भी बनता है

सब जायज है
कुछ भी नाजायज नहीं है

सब बदल जाते हैं
सबकी अपनी वजह होती है
कुछ तो बेवजह ही बदल जाते हैं
फिर तुम क्यूँ ?
क्यूं नहीं बदलते तुम

तुम क्या कुछ अलग हो ?
क्यूं अलग हो ?
अगर हो तो
होना तो यूं चाहिए कि
सबसे पहले तुम बदलो
क्यूँ ?
वो यूँ कि तुमने कितने ही बदलाव देखे हैं
फिर भी क्यों नहीं बदलते ?

एक बार की बात है
रास्ते में मुझे मौका मिला
और देखते ही देखते वो बदल गया

कल ही की बात है
उनका विश्वास मिला था
फिर यक-ब-यक बदल गया

उनका एहसास भी मिला था
बस वो ना बदला

अब सोचता हूं
जब सब बदल जाता है
तो फिर ये एहसास क्यों नहीं बदलता

क्यूँ मैं एहसास के भरोसे
जिंदगी निकालूं

क्यूँ न ये एहसास भी
हकीकत में बदल जाए
जब सब बदल रहा है
तो सच इसे भी बदलना ही चाहिए

जो दिखता है सच ही लगता है
पर अब तो सच भी बदल जाता है

जो मिलता है सच ही लगता है
पर वो भी बदल जाता है

सब बदल रहा है
आखिर क्यों ?

मेरे मन में कई प्रश्न
चल रहे हैं
बदल-बदल कर
कई बार तो पुराने प्रश्न भी
बदल जाते हैं

ऐसा नहीं है
कि हर प्रश्न का
उत्तर मिल ही जाता है
कुछ अनुत्तरित भी रह जाते हैं
फिर भी बदल जाते हैं।

लोग जो अपने थे
अपने नहीं रहते
वो जो सपने थे
वो भी नहीं रहते

अब तो ये बड़ा सवाल है
आखिर के क्या रहेगा

कुछ रहेगा भी या नहीं
क्या जीवन इतना अनिश्चित है
कि आप कुछ भी निश्चित ना कर सके

तुम भी बदल जाओगे
फिर मेरा ये वहम भी टूटे
कि कुछ तो है जो नहीं बदलता

जब सब बदल रहे हैं
तुम भी बदल जाओ
और तोड़ दो मेरा ये वहम
के कुछ तो है जो नहीं बदलता।

कल ही एक मासूम के
चेहरे पर मासूमियत दिखी थी
आज देखा तो वो भी बदल गई।

मक्कारी एक ऐसा मिजाज है
जो शायद ही कभी बदलता हो
पर यह तो कमाल ही हो गया।

देखते ही देखते वो भी वहशियत में बदल गई
मैं फिर गलत साबित हुआ
वहशियत भी दरिंदगी में बदल गई।

इंसान की इंसानियत बदल रही है
फिर हैवान भी क्यूँ ना बदले।

तरक्की का दौर है
सब तरक्की कर रहे हैं
हर दिन इक नई नस्ल बदल रहे हैं
हर झपकते पलकों में अपने ईमान को बदल रहे हैं।

बस एक तुम हो जो नहीं बदल रहे हो
अब मान भी जाओ और तुम भी बदल जाओ।

कई चीजें जो मैं बदलना चाहता था
पर नहीं बदल सका
मेरी मां के चेहरे की बेबसी
मुझे पालने की लाचारी

परिस्थितियों की दारुणता
कभी नहीं बदली
लोगों का बेगैरत रवैया
धिक्कारती नजरें भी नहीं बदली।

बस एक तुम हो जो नहीं बदलते
हजारों वजहें हैं फिर भी नहीं बदलते
काश के तुम भी बदल जाते।

ताखा

कभी हर घर में एक ताखा हुआ करता था
घरों के नए लिबास में ये ताखा खो गया

आज की नस्ल को तो ताखा शब्द भी शायद विलायती लगे।
लगेगा क्यूँ नहीं लगेगा
जब देखा ही नहीं तो अजनबी तो लगेगा ही।

ताखे का होना हर घर की शान थी
आन और बान भी थी
घर में घुसते ही
बाबूजी की पहली नजर
ताखें पर ही जाती थी
शायद कोई चिट्ठी पत्री आई हो
या फिर कोई संदेशा हो

अक्सर ताखे में घर के किवाड़ की चाबी हुआ करती थी
सुबह उठते और रात को सोते ताखें पर जाना जरूर होता था।

अक्सर घरों में इसी ताखे में ढिबरी भी रखा करते थे
ताखें की दीवार ढिबरी के धुए से काली हो जाती थी
पर करें तो क्या करें
कोई और जगह इतनी महफूज नहीं होती थी
जो ढिबरी को हवाओं के थपेड़े से बचा सके
अगर रोशनी मुतवातर
चाहिए तो ढिबरी का ताखें में होना जरूरी था।

अजब गजब के हुआ करते थे ये ताखे
कहीं चौकोर, तो कहीं सीधे
तो कहीं अल्पनाओं और पच्चीकारी से सजे हुए

हर कोई अपनी सामाजिक और आर्थिक स्टेटस के मुताबिक
अपना ताखा सजाकर रखता था।

ताखा हर किसी की तवज्जो का
मरकज बना रहता था

आज नए जमाने के घरों में ताखे नहीं है
खो गए हैं या विलुप्त हो गए हैं

हर जगह अलग प्रकार के अत्याधुनिक फर्नीचर हैं
आलमारियां है, टेबल है, कुर्सी है, लॉकर है,
बस नहीं है तो एक ताखा नहीं है

बेतहाशा पैसे खर्च होने के बावजूद
आज का इंटीरियर वो तवज्जो नहीं पाता
जो किसी जमाने में ताखे को मिलता था

इक ताखा ही था जिससे
घर के छोटे-बड़े का वास्ता था

यूँ लगता था मानो
ताखे के बिना घर ही अधूरा है

मैं सिर्फ ताखे पर ही क्यूँ अटका हूँ
आज बहुत कुछ है जो बदल गया है
क्यूँ ?
क्योंकि इंसान बदल गया है
इंसानी फितरत बदल गई है
ना जाने किस चीज की चाह में
अपनी खुशियों से हर रोज
इंसान दूर चला जा रहा है

मुझे याद है
घर के बाहर के वो चबूतरे
जिस पर बैठे हम यार दोस्त
घंटों हंसी ठिठोली किया करते
वक्त तो मानव पंख लगाकर उड़ जाता था
इन चबूतरों पर
और घर से कोई ना कोई बुला कर ले जाता था।

हर घर में एक आंगन भी हुआ करता था
जहां बच्चों की किलकारियां हुआ करती थी

घर के सभी अच्छे प्रसंगों में ये आंगन
गूंजता रहता था
महिलाओं का सबसे प्रिय जगह था ये आंगन

घर में बरामदा था, छत थी
और बड़ी-बड़ी खिड़कियां
इंसानी तरक्की ने ये सब बदल दिया

अपना घर पाने के चक्कर में
डिब्बे जैसे दड़बे में हम शिफ्ट हो गए
जहां सांस लेना दूभर है
वहां हम जिंदगी तलाश रहे हैं

घर के बड़े बूढ़ों का साथ
हमें अच्छा नहीं लगता या
घर से निकलकर बेगानों के लिए आ गए
अपने मां-बाप की नजरों से दूर
अंकल, आंटी को हाय-हल्लो करना अच्छा लगता है
आखिर फ्रीडम और स्टेटस का सवाल जो ठहरा

अपने भाई बहनों के साथ
मिलकर रहने में प्राइवेसी जाती थी
इसलिए हम दड़बों में शिफ्ट गए
कमियां फिर भी थी
इसलिए क्लब की मेंबरशिप ले ली
और वीकेंड पर झूठे और सजावटी चेहरे लेकर
बे मतलब के रिश्ते बांधते हैं।

सच

सच ढूंढता हूं मैं
बड़ी शिद्दत से - सच ढूंढता हूं मैं
हर जगह, हर घड़ी, हर पहर
बस सच ढूंढता हूं मैं

कई बार यूं लगा के
आज तो मेरी फतह निश्चित है
कई बार यूं लगा के
आज मिल ही जाएगा
मेरी जिंदगी का मुकाम

जबकि लगा हूं एक ही अंजाम को
फिर भी मेरा मकां नहीं मिलता

कई बार यूं भी होता है
जिसे समझता हूं सच
बस वही निकल जाता है
दिल से बड़े करीब से
जब भी जाके देखता हूं
मेरा सच बदल सा जाता है

सच के इतना करीब पहुंच कर भी
सच क्यूं मुझसे दूर हो जाता है
बस इसी उघड़े हुए को बुनने में लगा हूं
आखिर सच ढूंढता हूं मैं

सब कहते हैं सच आखिर सच होता है
वो आखिरी सच कहां होता है
इस आखिर की हद आखिर कब होगी
कौन से पड़ाव पर यह ठहरेगा
कौन से मुकाम पर यह टिकेगा
कौन सी जुबान से यह निकलेगा

वही सच जिसका हर तरफ बोलबाला है
वही सच जो लफ्फाजियों का निवाला है
बस वही वाला सच जिसका दम भरते लोग नहीं थकते
बस उसी सच को ढूंढता हूं मैं

सच ढूंढता हूं मैं
कभी घर तो कभी चौबारे पर
कभी गली तो कभी चौराहे पर
सच ढूंढता हूं मैं

बड़ी मिन्नतें की है मैंने
बस इक सच के खातिर
सब कहते हैं कि मैंने जो कहा वही सच है
सब अपने सच को बड़ा बताते हैं
सब अपने सच की दुहाई देते हैं
सब कहते हैं उनके सच से
बड़ा कोई दूसरा सच नहीं है

सच का बड़ा ज़माना है
सब सच के मुल्लम्मे में लिपटे हुए है
सभी ने सच की चादर ओढ़ रखी है
किसी-किसी ने ताबीज भी पहनी है सच की

ऐ- खुदा या परवरदिगार
तुमने मेरे साथ ऐसी नाइंसाफी क्यूँ की।
क्यों दी तूने ऐसी बीनाई मुझे कि
सच जो हर तरफ बिखरा पड़ा है
बस एक मुझे ही नहीं दिखाई देता।

फिलहाल मैं ना थकने वाला हूं
ना ही मैं हारने वाला हूं
मैंने भी ठान रखी है
कुछ भी हो जाए सच आखिर ढूंढ ही लूंगा

आज जरूरत पड़ी तो खुदा के घर तक भी
जाकर इसकी पैमाइश कर ही लूंगा
जो बना फिरता है सारे जहाँ का रहनुमा
उसके दर की दहलीज को भी छू लूँगा
बस इक सच की खातिर

मैं भी अपने लगन का पक्का हूं
मैं भी अपने वचन का पक्का हूं
कुछ भी हो जाए अब तो बस ठान ली है
बस अपने ही दिल की बात मान ली है

कुछ भी हो जाए जाए हर हाल में पा लूंगा
कुछ भी हो जाए सच्चाई को छू लूंगा।

सच को ढूंढता हूं मैं
सच को सच में ढूंढता हूं मैं

सच का यो दुर्लभ हो जाना बड़ा बेतुका सा लगता है
सच का यूं खो जाना बड़ा अटपटा सा लगता है
लगता है अगर यही लब्बो लुआब था तो फिर
क्यों लोग दम भरते थे सच का दिन रात।

अगर सच का पाना इतना ही मुश्किल है तो
फिर क्यों सिखाया हमें हर कदम पर के सच के साथ रहो
हमें बचपन से सिखाया गया है सच बोलो
इस सच को सच मानकर मैंने सच बोलना सिखा

मैं एक सच बोलता हूं
बदले में हजार झूठ का नजराना मुझे मिलता है
मैं एक सच देता हूं लोग अनगिनत मक्कारियों से नवाजते हैं मुझे

मैं कोशिश करता हूं कि जो हूं बस वही रहूं
आखिर खुदा के घर जाना है
किस हाल में आया था उसी हाल में जाना है
ना कुछ लेकर आया था और ना ही कुछ लेकर जाना है।

बस यही सोच कर के जो हूं जैसा हूं
बस वैसा ही बना रहूं
बस वैसे ही दिखता रहूं
पर ये क्या ?
लोग तो वैसे नहीं दिखते
ना ही वैसे लगते हैं
आदमी वही होता है पर
फितरत हरबार बदल जाती है
इंसान वही होता है पर
शख्सियत हर बार बदल जाती है
आदम जात वही होता है पर
आदमीयत बदल जाती है

क्यों बदलता रहता है यह इंसान ?
क्यों ऐसी फितरत पाई इंसान ने
इक पल भी टिक के नहीं रहता
बस बदलता जाता है
फितरतें, अंदाज, ईमान
और ना जाने क्या-क्या सब कुछ बदल जाता है
पर मैं भी लगन का पक्का हूं

सच को ढूंढता हूं मैं

सच को ढूंढता हूं मैं
आखिर में अपनी मंजिल हासिल करके ही रहूंगा,
आखिर सच को ढूंढता हूं मैं

देखा था किसी की आंखों में इक बार नूर कोई
फिर क्या था चल पड़ा उसके नूर के पीछे
क्या पता था कि सच के मानिंद नूर का भी
मिलना आसान नहीं है

फिर लगा क्या नूर और सच एक ही है
नूर क्या खुदाई शै है
नूर क्या सच का रास्ता दिखाएगी
कभी नूर कभी सच

सच में मैं उलझ गया फिर एक बार।
समेटा मैंने अपने आप को
और फिर से लगाया लगन की ताकत को
समझाया खुद को अपने ही अंदाज में
आखिर सच ढूंढता हूं मैं।

जो दिन और दया की बातें करते थे वो भी बदल गए
जो किया करते थे तकरीर इंसाफ ओ दुहाई
की वो भी बदल गए
जो खाते थे कसमें जीने मरने की

बड़ा जोर दिया मैने अपने छोटे से दिमाग पर
क्या यही सच है की सब कुछ बदल जाता है
ईमान धर्म क्या प्यार, मोहब्बत
रिश्ते नाते क्या कुछ भी नहीं टिकता
क्या वक्त के साथ सबकुछ बदल जाता है
ऐसा है तो आखिर मैं क्यूं नहीं बदला
शायद कुछ नुक्स रह गई थी मेरे में
ऊपर वाले की तरफ से
शायद यही वजह है कि
मैं सच ढूंढता हूं
आखिर यही है मेरी फितरत
सच ढूंढता हूं मैं

कविता

मनीष श्रीवास्तव

कुलसचिव (कार्यवाहक)
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

फेर उही....

फेर उही 18 जून।
न चैन न शुकुन।।
फेर उही घण्टी।
बबली अऊ बण्टी।।
लईका मन के रांव रांव कांव कांव।
पहिली ले पांचवी, कोन कक्षा जांव।।
फेर समन्वयक के अवई जवई।
नानम् परकार के पत्रक भरवई।।
उही मूत्रालय, उही शौचालय पयखाना।
फोटो खींच खींच के साहेब मन ल बताना।।
मनटोरा भउजी चाऊंर ल देवत हे फुन।
न चैन न शुकुन।
फेर उही 18 जून।।
फेर रेडियो,टी बी के लफड़ा।
उही थारी, टिमटिमी अऊ दफ़ड़ा।।
फेर उही परशिक्षन।
साहेब मन के निरीक्षण।।
फेर कुरता पैंठ के छटई।
नम्बर हिसाब से बंटई।।
फेर अब पनही आही काहत हे।
भगवान जाने सरकार, काय चाहत हे।।
तहुँ मोरे कस गुन।
न चैन न शुकुन।
फेर उही 18 जून।।
फेर दरुहा ह स्कुल म लऊ ठी पटकही।
देखबे, ओकर बोटर्रा आंखी भारी छटकही।।
चिपरा सारे धोवाय नई राहय।
गऊकिन,गुरु जी कतेक ल साहय।।
फेर उही मध्यान्ह भोजन।
लईका मन ल कहां कहां खोजन।।
मध्यान्ह भोजन म कीरा कहूँ परगे।
गऊकिन ददा, परधान पाठक मरगे।।
कतेक काहय, कतेक लिखय, अभी अतके ल सुन।
न चैन न शुकुन।
फेर उही 18 जून।।
जय जोहार संगवारी हो...।

कविता

बसन्त राघव

स्थायी पता- पंचवटी नगर, मकान नं. 30
कृषि फार्म रोड, बोईरदादर, रायगढ़,
छत्तीसगढ़।
ईमेल - basantsao52@gmail.com

संवाद

तुम्हें जीना है
एक अच्छी जिंदगी
तो जरूरी है
निष्पक्ष असहमति
तुम्हारा विरोध
इतना मुखर हो
इतना प्रखर हो
कि
तुम बहिष्कृत तक
किये जा सको
लेकिन यदि तुम
नहीं हुए पराजित
अपने आप से
तो तय है
फिर लौटोगे
बार-बार
भविष्य के पन्नों में
बेहद जरूरी है
सार्थक संवाद की
अपनी एक समर्थ भाषा
एक खूबसूरत
और चमकदार जिंदगी के लिए
संभव नहीं
एक सार्थक संवाद
असहमति के बिना
हाँ में हाँ से तो
मर जाती है
संभावना
प्रगति के धारदार सोच की
और
याद रखो
यही से उदय होता है
किसी दुर्दांत तानाशाह का
इतिहास की
किसी भयावह तिमिरावृत खोह से
यहीं से होती है शुरुवात
गला घोंटने की
किसी सच के

कविता

केशव शरण

संपर्क- एस2/564 सिकरौल, वाराणसी
मोबाइल नंबर - 9415295137
ईमेल- keshavsharan564@gmail.com

दुनिया एक बाग़ हो

सुबह की
सुहानी हवा में
विहार करते हुए
ख़याल आया
हमारी दुनिया
एक बाग़ हो
जिसमें हम सैर करें
क्यों बैर करें

प्यार की ताक़त जानते हैं
फिर नफ़रत क्यों पालते हैं
लम्बी साँस भरते हुए
विचार आया

आवश्यकता है सम्पूर्ण मानवता के ज़ख़्मों पर
मरहम की
न कि एटम बम की
लम्बी साँस छोड़ते हुए
उद्गार निकला
और इसी के साथ सूरज नारंगी रंग का
वृक्षाच्छादित क्षितिज के पार उभरा

फूल और मैं

एक फूल ने
सँभाल लिया है
फ़िलहाल
सारा भार
मेरे दुखों का
और हवा में
झूम भी रहा है
आनंद से
जबकि तितली का वज़न
पहले से उस पर था

उसके झूमने से
मेरा दिल भी
झूम रहा है
जो हो रहा पत्थर था

पगडंडी

गोया, एक मटमैली
पतली-सी नदी
बही जा रही है
दोनों किनारों पर दूर तक
बेपनाह वनैली वनस्पतियों, घास-फूस के
पावसी विस्तार और वैभव में
यूँ चली जा रही है पगडंडी

घास-फूस औ वनैली वनस्पतियों को
कोई रोक नहीं सकता
परती और पावस में
सिवा पगडंडी
और नदी के
जो रोकती है
जंगल को
अपने अंदर

दाख़िल होने से
जंगल में बहती नदी की तरह
सुन्दर लगती
परती में लहराती पगडंडी
जिसके पार है
सड़क, बाज़ार और मंडी !

बेल

बेल जा चढ़ी है
अंतिम मुँडेर पर
वहीं घनी होती
नीचे उतर रही है

एक अदा यह उसकी
दूसरी विशेषता यह कि
कानन-कुण्डल जैसे पुष्पों से
सतत भर रही है

तीसरी बात यह कि
भँवरों और तितलियों को
आकर्षित कर रही है
जो उसके पहले
नहीं दीखे

चौथा राज़ यह कि
वह अपने झरते फूलों से
कृतज्ञता ज्ञापित कर रही है
उस माटी के प्रति
जो उसे ले गई है
अंतिम मुँडेर तक

सूर्यप्रताप सिंह चौहान

शिक्षा- स्नातकोत्तर (टेक्सटाइल इंजीनियरिंग)
व्यवसाय- टेक्सटाइल इंजीनियर
सम्पर्क सूत्र- 8979617620
स्थायी पता- फ़र्रुखाबाद (उत्तर-प्रदेश)
ईमेल- surya15894@gmail.com

हैं बरसते पुष्प देखो, आज तो आकाश में।
आ गई बिटिया हमारी, जब हमारे पास में।।

पुण्य ही आकर फले हैं, जो तुम्हारा प्रेम बरसा।
सच प्रतीक्षा में तुम्हारी, मन हमारा खूब तरसा।।

विश्व की खुशियाँ मिली हैं, सब हमें आभास में।
आ गई बिटिया हमारी, जब हमारे पास में।।

शांत जीवन में हमारे, बांसुरी सी बाज उट्ठी।
तान कैसी छेड़ दी है, उँगलियाँ खुद साज उट्ठी।।
मौसमों से लग रहा हम, आ गए मधुमास में।
आ गई बिटिया हमारी, जब हमारे पास में।।

घुँघरुओं की छनछनों में, पैर थिरके किस तरह से।
अप्सराएँ नाचती ज्यूँ, स्वर्ग मे हैं, जिस तरह से।।

बज रहा संगीत देखो, हर तरफ आवास में।
आ गई बिटिया हमारी, जब हमारे पास में।।

कविता

मोतीलाल दास

भारतीय रेल सेवा में कार्यरत
डोंगाकाटा, नंदपुर, मनोहरपुर, झारखंड
ई-मेल : motilalrourkela@gmail.com

अवसाद

हो सकता है
नदी और आकाश के प्रसंग में
कहीं भी नहीं ठहरती हो
हमारी प्रार्थनाएं
और चीजों के भ्रष्ट होने में
भय की दीवारों के पीछे से
कोई परेशान आंखें झांक लेती हो

अब तुम ही बताओ
कैसे कोई चूहा
शेर में तब्दील हो
या कोई हाथी
बदल जाए चींटी के शक्ल में
भले ठंडे होने की प्रक्रिया
फाइलों में कसमसाती हो

साफ जाहिर है कि
सारी पंक्तियां
एक साथ नहीं पढ़ी जानी है
डिटेल्स में जाने की अपेक्षा
हम समरी देखना चाहते हैं
ठीक हमारे बोसांई की तरह
और बचा लेते हैं हम
काल के सागर से
अपना समय
पर कदम
क्लब की ओर मुड़ जाते हैं

काहे का रोना
सड़े फलों को देखकर

अगर हो सके
हम बना लें ऐसी कविताएं
जो दे पाए फलों का स्वाद
और लड़ लें
ठंड से
धूप से
पाले से
तब बची रह सकती है
हमारी नदियां
हमारी फसलें
और हमारा आकाश.

ऐलान

यहाँ
नृत्य करता है
तुम्हारे आश्चर्य
मेरे सपने

आसमां में चारों ओर
कुछ हकीकतों को
तुम बेशक ठोकर मारते हो

पर जब नाच उठता है जंगल
तुम्हारे महल
धाराशायी होने लगते हैं.

कविता

प्रीति शर्मा 'असीम'

नालागढ़, हिमाचल प्रदेश
ईमेल- aditichinu80@gmail.com

बाकी है

चंद खुशियों की हसरत में बेपनाह दर्द बाकी है।
जो बीच रास्ते छोड़ दिया तुमने अभी वो साथ बाकी है।

जो तुम तक पहुंच न पाई मेरी सदायें बाकी है।
मेरे खामोश लफ्जों की हजारों बातें बाकी है।

थकी आंखों का अभी इंतजार बाकी है।
जो रूह को सकून दे तेरा अभी दिदार बाकी है।

चंद खुशियों की हसरत में बेपनाह दर्द बाकि है।
जो बीच रास्ते छोड़ दिया तुमने अभी वो साथ बाकी है।

किस कसूर की दी है सजा अभी इल्ज़ाम बाकी है।
मौत का दे दिया फरमान अभी हमारी जान बाकी है।

सजदों में बांधी डोर की अभी वो गांठ बाकी है।
क्यों दुआएं कबूली नही गई वो फरियाद बाकी है।

चंद खुशियों की हसरत में बेपनाह दर्द बाकी है।
जो बीच रास्ते छोड़ दिया तुमने अभी वो साथ बाकी है।

हम ने अजमा लिया सब को खुदा का इम्तिहान बाकी है।
इश्क़ का यह सिला है क्यों हमारा फरमान बाकी है।

अक्सर..... जिंदगी

अक्सर जिंदगी छीन लेती है उन हौंसले के पंख।
जो उड़ना चाहते हैं आसमान की उंचाई पर।
मापना चाहते हैं क्षितिज के पार
क्या पता हो कोई अनुपम संसार।

अक्सर जिंदगी छीन लेती है उन पैरों को।
जो नाचना चाहते थे जीवन की ताल पर।
थिरकते थे जिंदगी के हर नये ख्याल पर।।
लेकिन टूट कर रह गये अपनी ही ताल पर।

अक्सर जिंदगी छीन लेती है उन सपनों को।
जो जिंदगी ने खुलीं आंखों में सजायें।
लेकिन सपनों की हकीकत के हिस्से सिर्फ,
इन्तज़ार के बंद दरवाज़े ही आयें।।

अक्सर जिंदगी छीन लेती है उन अपनों को।
जो जिंदगी के हर अहसास में हो समायें।
लेकिन जिंदगी की हर वजह में,
बजूद न बन पायें।
जिंदगी को मार दे और मिटा भी न पायें।।
अक्सर जिंदगी छीन लेती हैं प्यार को।
प्यार के हिस्सें में सिर्फ भटकाव आयें।
जब मिला भी तो साथ रह न पायें।
नफरतों ने उम्र भर के रिश्ते निभायें।

कविता

रमेश चन्द्र

वरिष्ठ साहित्यकार, हिंदी, अंग्रेजी और तमिल में साहित्य) एवं साहित्येहतर विधाओं पर 30 पुस्तकें, 13 पुरस्कार
संपर्क- 1116, सेक्टेर 9-ए (ईएसआई अस्पताल के पीछे), गुरुग्राम, हरियाणा,
ई-मेल- sambherwal@yahoo.co.in

मन के तार

जब कहीं किसी दिल में
अंकुर उपजता है स्नेलह का,
मुझे नहीं पता क्यों होता है,
क्यूँन होता है।
जब नदिया दौड़ती है सागर की ओर,
मुझे नहीं पता क्यों दौड़ती है।
जब हवा चलती है सह्यादि्र से,
मुझे नहीं पता किस-किस के दिल को आर्द्र करती है।
परंतु जब किसी को किसी की याद आती है,
तो मुझे पता है, तुझे पता है,
वह याद दिल से निकल,
नदियों की लहरों पर दौड़,
हवा पर तैर,
हिमालय की गंध ले,
सिक्तय कर देती है
उसका तन-मन,
जिसकी याद आने के बाद
और कुछ याद नहीं रहता।
दूर बैठे भी कब मिल जाते हैं
मन के तार!

साहित्यकार

साहित्यकार साधक है।
साहित्य-सागर को
शब्दों की वैतरणी से पार करता हुआ
लक्ष्य रूपी साहिल तक पहुँचता है।
जगती रूपी उपादानों का अवलंबन ले,

विचारों रूपी ताकत से खेता है।
अनुभूति रूपी श्रृंखला में
भंग रूपी ज्वाशरों को
मनोबल रूपी सेतु और
धैर्य रूपी बल से पाटता है।
शब्दों रूपी फूलों से वाक्य रूपी माला बना
विचारों रूपी अर्घ्यी दे
साहित्य रूपी ईष्ट को समर्पित करता है।

अनुभूति

अनुभूति फाग के महीने में
फुदकती वह चिड़िया है,
जो घरों में जबरदस्ती
घोसला बना लेती है।
जब वह आती है,
न पूछती है किसी से,
न डरती है किसी से,
बार’-बार की हटकार से
वह आना नहीं छोड़ती है,
घोंसला बनाकर ही रहती है।
कभी वह दबे पाँव आती है,
कभी सबकी कोशिशों को चुनौती देकर।
रात में वह वहीं कहीं छिप,
उसके सपनों को भी आशियाना बना लेती है
और जब तक नहीं उतर आती है
उसके मन में पूरी तरह,
नहीं मान लेता है मन उसे भी एक ताकत,
तब तक वह चहकती, फुदकती रहती है
वहीं, उसी आंगन में।
अपना अस्तित्व जताकर ही रहती है।
अनुभूति फाग के महीने में
फुदकती चिड़िया है,
आकर ही रहती है।

सीता

मैं हूँ सीता, सत् की जननी
सत् की पालनहारिणी।
बेटा, पति, पिता या नाती,
सबकी मंगलहारिणी।
फिर भी समझी जाती हूँ मैं
केवल चरण-विहारिणी।
पितृ मेरा या भ्रातृ मेरा हो ,
पुलिस, पुरोहित, छात्र मेरा हो,
अफसर, मुल्लात और पुजारी,
सबके लिए भक्ष्यर है नारी।
वक्त -बेवक्तह सबके सब ये,
मेरा रक्तभ चूसते हैं ये।
लेना चाहते हैं निकाल ये
वह स्वार्ग का सुख मुझमें से,
जिसके भोग की भूख ललकती
इनको सुख व दुख में से!
मेरे लिए नियम है 'सीता'
फिर भी मैं तो रही क्रीता,
किसी चीज के क्रय की भाँति,
जिसने चाहा, मुझे खरीदा!
कैसे कहूँ है कोई रक्षक?
तोड़ो माँ, बेटी का मिथक।
कहो स्वायं को पुरुष मात्र ही
और मुझे तो गात्र मात्र ही,
ताकि मैं भी, तुम भी समझो –
'इस सीता के शीलहरण से,
शीलहरण न हुआ किसी का,
मुझे भ्रम न रहे यह कि
कोई मेरा भाई भी था!'

डॉ. रचनासिंह 'रश्मि'

साहित्यकार, सोशल एक्टिविस्ट
पर्यावरणविद

मजदूर हूं

मैं मजदूर हूं
रंजो गम से
भरपूर हूं
फटे चीथड़ो में
गांव मिट्टी घर से दूर
दो वक्त की रोटी को
मजबूर हूं
घर ना ठिकाना
खुले आसमां के नीचे
सोने को मजबूर हूं
करके मेहनत
थककर चूर हूं
तपती धूप में
पसीने से भरपूर हूं
वोटों की गिनती में
जरूर हूं
सरकारी सुविधाओं
से दूर हूं
मैं हर जगह मजूद हूं
सबसे करिब फिर भी
सबसे दूर हूं
क़िस्मत से मजबूर
भारत की तकदीर हूं
उनके हिस्से सुख
मेरे हिस्से में दुख
मैं इतना क्यों!
मजबूर हूं
क्योंकि! मैं मेहनतकश
मजदूर हूं

रमेश कुमार सोनी

राज्यपाल पुरस्कृत व्याख्याता एवं साहित्यकार
निवास- कबीर नगर, फेज-2, रायपुर (छत्तीसगढ़)

कारवाँ

धरती माँ से सुनी
कल एक कहानी
दूध की नदियाँ और
सोने की चिड़िया थी कभी
आँचल रत्नगर्भा और
पानी की अमृतधारा थी यहीं
वृक्षों की ठंडी छाँह और
खट्टे-मीठे फल का स्वाद
परोसती थी वो कभी।

आज मुझे वो मिली है-
जहरीली हवाओं की दम घोंटू साँस और
अम्लीय वर्षा की चिंता लिए
सीना छलनी हुए
बोरवेल से छिद्रित आँचल का दर्द लिए
पानी की घूँट को तरसती
सीने में ज्वाला धधकाती
ओज़ोन की फटी छतरी ओढ़े
विषैले कचरों का बोझा ढोए
मज़बूर है अपनी ही जैव सम्पदाओं को
नष्ट होता देखने को वाकई
धरा:कौन जाने दर्द तेरा।

सबको अपने दर्द की चिंता है
बदलते मौसम से कोफ़्त है
समस्याएँ सबको पता है
समाधान भी जानते हैं
लेकिन ये प्रकृति के शहंशाह जो ठहरे
धरा की आर्तनाद पुकार

वहाँ तक पहुँचे भी तो कैसे।
धरा जानती है इन्हें
किसी माँ की तरह सुधारना
भूकम्प, सुनामी और बाढ़ के
पुराने तरीके छोड़
अब यह गुस्से से कूकर बनी बैठी है
अपने ही कोप भवन में
लोग वैश्विक चर्चा में मशगूल हैं
इसे कैसे मनाया जाय।

इन सबसे दूर मैं
पेड़ लगाते हुए अकेले
बुला रहा हूँ लौटे हुए परिंदों को
दुलार रहा हूँ अपने
इकोसिस्टम की जैव सम्पदाओं को
इस उम्मीद के साथ कि
एक दिन कारवाँ ज़रूर बनेगा
एक दिन ज़रुर ये नादान लोग
शिकायत नहीं रहने देंगे कि-
धरा:कौन जाने दर्द तेरा।

आखिरी पेड़

जंगल कहते ही
याद आने लगते हैं-
पशु- पक्षी, नदी, झरने और
जंगल का कानून,

पेड़ मानते हैं कानून
इसलिए सावधान खड़े हैं
जंगल कहे तो ये फूल- फल जाते हैं,
झर जाते हैं, कट जाते हैं
उफ़्फ़ भी नहीं करते।

सड़कों की सीमा पर खड़े पेड़
कई दिनों से उनीदें हैं
वे टकराना नहीं चाहते आदमी से
क्योंकि ये विनम्र और अहिंसक हैं
धूल- धुआँ, पत्थर और
मौसम की बेरुखी सहते हुए भी सबको
पानी और छाया निःशुल्क देते हैं ;
उदास होने पर
पत्तियाँ गिराकर नंगे खड़े हो जाते हैं और
खुश होने पर महक कर
फल -फूल बाँटने लगते हैं।
पेड़ों की परिंदों से यारी है
पाखी उन्हें अपने गीतों में ढालकर
दुनिया का हाल- चाल सुनाते हैं,
पेड़ चूजों के पलायन से खुश हैं
क्योंकि वे चाहती हैं कि-
बीजों की तरह ही
सबकी बिरादरी
दूर का प्रेम संबंध निभाए।

पेड़ डरे हुए हैं आजकल
कुल्हाड़ी की लकड़ी से
जो पेड़ों की कमज़ोर नस को जानती है
विभीषण की तरह;
एक पेड़ कटने की शोक सभा में
आज जंगल के सभी पेड़ उपवास पर हैं
ठूँठ सिसक रहे हैं,
पक्षी हत्यारे की खोज में निकल पड़े हैं,
डोजियर तैयार हो रहा है;
लोग पौधे लगाते तो हैं
पर बचाते कहाँ हैं ?
आदमी चाहे तो जंगल बचेंगे
क्योंकि अब जंगल का कानून
लोग ही तय करते हैं !!
आदमी के चाहने पर ही बचेगा आखिरी पेड़।

आखिरी उड़ान

उड़ गए हैं चूजे सभी
पँख उगते ही
सूने घोसलें में ताक रही है-
दाना लिए,आज फिर एक माँ।

जाने किधर गए होंगे?
जिंदा भी हैं या कोई निगल गया?
गौरैया हर बार
अपनी उड़ान भर तक खोज कर
उदास लौट आती है
जैसे लौट रहे हैं-
टहल कर वृद्धाश्रम की ओर
कोई खामोश दंपत्ति।

गौरैया हर बार धोखा खाती है
लेकिन हर बार नयी पीढ़ी पर
वह भरोसा जरूर करती है,
गौरैया की नियति बन गई है-
विश्वास करना और प्रतीक्षा करना;
इस बार वह अपने बच्चों को ढूँढने
कॉन्क्रीट के जंगलों तक को छान आई

उसने पाया-
उन घोसलों के हालात भी उसी के जैसे हैं,
एक दिन इन्हीं घोसलों में
कोई अंतिम साँसे लेगा
और दुनिया यूँ ही चलती रहेगी
किसी को कोई फर्क भी नहीं पड़ेगा।

गौरैया के पास
भोजन-पानी खरीदने को पैसे नहीं है!
उधारी उसे कौन देगा?
गिरवी में वह क्या रखेगी?
उसे चोरी-डकैती आती नहीं और
बंदूक उठाने से उसने इंकार किया हुआ है,
इन दिनों भोर और साँझ का कलरव
ढूँढ रहा हूँ मैं

मेरे पौधों के बड़े होने तक
चिड़िया लौट गई थी जाने कहाँ,
काश मैं अपने अतिथियों को
कुछ दिन और रोक पाता
मैं उनके लौटने की प्रतीक्षा में
कुछ और पौधे लगा रहा हूँ....।

अलार्म बज रहा है

इतना पानी दिन भर में पीना है
इतनी साँसे गिनकर लेनी है
इतने समय तक काम करना है
इतने समय व्यायाम करना है
इतने समय में सोना-जागना है
इतना डाटा उपयोग करना है
इतना ही हँसना-बोलना है;

इतने ही पैसों में जिंदा रहना है
इतना ही खाना,खाना है
दवाईयाँ तो तय समय पर लेना ही है
सब कुछ तय होता है-शहरों में।
बहारों को प्रवेश से पहले ही
शहर में प्रवेश के नियम पता हैं

देखो वसंत भी
गमलों में कनबुच्ची करते बैठा है
हवाएँ, अपनी मर्जी से
यहाँ-वहाँ नहीं घूम सकतीं
नदियाँ बेशोर निकल लेती हैं
अतिथियों का प्रवेश निषेध है ही।

जब सब कुछ तय है इनका यहाँ पर
फिर यहाँ के लोग मरने से डरते क्यों हैं?
क्या बचा रह गया है शहर में इनका?
डॉक्टर ने पहले ही चेता दिया है इन्हें कि-
तुम्हारा कोटा पूरा हो चुका है!

नमक, शक्कर, तेल-घी, मसाला सब बंद।
आखिरकार एक दिन
शहर ने सुना ही दिया कि-
इनकी सेवा-सुश्रुषा करो
आब-ओ-हवा बदल दो
दुआएँ करो...

अब ये प्लास्टिक के पहाड़ जैसे लोग
गाँव में अपना घर ढूँढ रहे हैं-
नदी किनारे,जंगल के पास
शहर जैसा घर
अलार्म बज रहा है...
श श श कोई जा रहा है....।

खुशियाँ रोप लें

आज बाग में फिर
कुछ कलियाँ झाँकी
पक्षियों का झुंड
शाम ढले ही लौट आया है
अपने घोंसलों में दाने चुगकर
गाय लौट रही हैं
गोधूलि बेला में
रोज की तरह रंभाते हुए
क्या आपने कभी इनका विराम देखा?

वक्त ना करे कभी ऐसा हो
जैसा हमने देखा है कि-
कुछ लोग नहीं लौटे हैं-
अस्पताल से भी वापस,
हवा-पानी बिक रहा है
नदियों के ठेके हुए हैं
प्याऊ पर बैनर लगे हैं;
पानी पूछने के रिवाज गुम हुआ है
साँसों की कालाबाज़ारी में-
ऑक्सीजन का मोल महँगा हुआ है।

सब देख रहे हैं कि-
श्मसान धधक रहे हैं
आँसू की धार सूख नहीं पा रही है
घर के घर वीरान हो गए हैं
इन सबके बीच आज भी लोग
कटते हुए पेड़ों पर चुप हैं
प्लास्टिक के फूल बेचकर खुश हैं
खुश हैं बहुत से बचे खुचे हुए लोग
मोबाइल में पक्षियों की रिंगटोन्स से।

आओ आज तो सबक लें
भविष्य के लिए ना सही
अपने लिए ही बचा लें-
थोड़ी हवा,पानी, मिट्टी और जिंदगी
आओ रोप लें खुशी का एक पेड़
एफ.डी. के जैसे!
पुण्य मिलेगा सोचकर!
मुझे विश्वास है कि-
तुम्हारी ही हथेली में एक दिन जरूर
खुशियों का बीज अँखु आएगा।

कविता

शोभित कुमार

जेआरएफ शोधार्थी (हिन्दी)
565 अज़ीज़गंज, शहीद भगत सिंह पार्क गली, शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश
मोबाइल नंबर- 9956607025
ई-मेल – shobhitspn4@gmail.com

1.

बहुत दिन हुए चंदा मामा
अब तो आ भी जाओ
पुए पके हैं घर में देखो
आकर खा भी जाओ

अम्मा ने लोरी गाना भी
छोड़ दिया है अब तो
बापू ने भी हाट दिखाना
बंद कर दिया अब तो

तुम आओ यदि मामा
तो अम्मा भी लोरी गाये
बापू बाबा भी कांधे पर
हाट बाट दिखलाएं

कृत्रिम दीप्ति के युग में अब
यह जीवन झुलस रहा है
मोबाइल पर आश्रित होकर
बचपन सिमट रहा है

प्रगति साथ है पर
मानवता नष्ट हुई जाती है
प्रेम और सौहार्द्र आदि सब
गमन किए जाती है.....!!

2.

बाबा! ओ कम्प्यूटर बाबा!
मुझे तनिक बतलाओ।
इतना ज्ञान कहाँ से पाया?
मुझको भी समझाओ।

जोड़-घटाना-गुना-भाग सब
तुमको तो आता है;
कैसे करते हो सवाल हल?
मुझको भी सिखालाओ।

ए बी सी डी क ख ग घ
और न जाने क्या क्या!
कैसे कैसे याद किया सब?
हमें समझ नहीं आता!

तुम ही फोटो-फिल्म दिखाकर
ज्ञान प्रदर्शित करते;

हम भी घर में कक्षा पढ़कर
मन ही मन खुश होते।

कुछ भी खोजें कुछ भी पूछे,
शोधन कर हो लाते;
अपने दृश्यपटल पर तुम ही
अखिल विश्व दर्शाते।

धरती सागर खग चौपायों
पृथ्वी अंतरिक्ष के;
भाषा कला गणित शास्त्रों के
तुम सबके कोविद हो।

तुमको लोग मशीन बुलाते
पर मशीन तुम कैसे!
तुम तो नूतन युग के उत्तम
अति उत्तम शिक्षक हो.......

3.
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥
जब तक हम सब रहे जमीं पर
तब तक रही रुकी;
यह अचरज से भरी!
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥

गाड़ी में जब बैठ सभी ने
खिड़की बंद करी;
घर को छोड़ चली
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥

बड़ी सड़क के आते आते
पकड़ी तेज गती;
कितनी तेज चली
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥

सड़क चली तो खेत चल पड़े
पेड़ बने संगी;
मेला छोड़ चली
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥
नानी का घर आते आते
फिर से मंद पड़ी;
मद्धम सड़क चली
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥

गाड़ी रुकी सड़क रुक गई
यह कौतुक से भरी;
देखो सड़क चली
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥

बाबा अम्मा तनिक बताओ
यह कैसी मुकरी;
कैसे सड़क चली?
बाबा सड़क चली।
अम्मा सड़क चली॥

कविता

सुमति श्रीवास्तव

सुमति श्रीवास्तव
जौनपुर उत्तर प्रदेश
मोबाइल - 8887595619

एक टुकड़ा रोटी दे दो यार

एक टुकड़ा रोटी दे दो यार, आंखें धंसी रूप हो गया कुरूप।
नन्ही कोमल काया कुमहलाती भरी धूप,
किससे कहें विपद वो अपनी,
तन संग मन भी है छलनी।
चला बुझाने नन्हा दिया, पेट की अगन।
छोड खुशियां भूख ने किया मगन
आज मौत बना रही आभार, एक टुकड़ा रोटी दे दो यार।।
देख रहे सब खटते उसको, आज पुकारे जाने किसको।
नयनों में भरकर पानी, सारा जग करे मनमानी।
आंते करती बस यही पुकार, एक टुकड़ा रोटी दे दो यार।।
सांसें बस अतिथि बनी है, ये कालिमा बड़ी घनी है।
दे दो मुझे सुत की जूठन, नहीं बना है घर में भोजन।
छोड़ो सब सपने साकार, एक टुकड़ा रोटी दे दो यार।।।

अनुष्का पाण्डेय

अनुष्का उन्मुक्ता के नाम से कविताएं लिखती हैं। वर्तमान में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में स्नातक अन्तिम वर्ष की छात्रा हैं।
स्थायी पता- कृष्णा नगर, मऊ रोड, सिधारी, आज़मगढ़, उत्तर प्रदेश

यात्रा

साल आते और जाते हैं
निकल जाते हैं आगे लोग
कोई दौड़ता है
कोई सरपट भागता है
कोई कछुआ तो कोई खरगोश
यहाँ सब कुछ न कुछ बनना चाहते हैं
सिवा इस बात के कोई बात नहीं
कि निकल जाना है आगे
बहुत आगे
चाहे छूट जाए अपनी ज़मीन
अपनी दुनिया
मैं गंगा की रेती पर बैठी
रेत के नन्हें कण की तरह मिटने के बाद भी
बचे रहना चाहती हूँ निर्माण की यात्रा में

बस एक कण इतना....

गंगा

गंगा एक नदी है
मेरा मन भी एक नदी है
दोनों बहते हैं धीरे-धीरे
कितना कुछ सहते...
कितना कुछ कहते...
एक यात्रा
मन से नदी तक की
समुद्र की चाहत में…

तुम अथाह हो सकते हो

बहुत गहरे
बहुत विशाल
ठीक समुद्र की तरह

और मैं छोटी सी नदी
बहुत छोटी
इतनी की तुम देख भी न सको
पर कितना अन्तर है
मुझमें और तुममें
मैं मीठी
तुम खारे…

सच

कितनी सुन्दर है यह दुनिया
कितनी बड़ी
कुछ सवाल और उनके हल तलाशती मैंई
कभी सड़क तो कभी गली के रास्ते
चलती हूँ और खोजती हूँ उस दुनिया को
जो सुन्दर है और बहुत बड़ी भी
अचानक गंगा के किनारे
घाट पर ठहर जाती हूँ
उस लड़के के नाचते लट्टू और उँगलियों के बीच
एक रस्सी भर है दुनिया
कोई नचाता है तो कोई नांचता है....

सीख

सब सिखाते हैं मुझे
पानी और हवा
मिट्टी और गंध
आँसू और हँसी
सुख और दु:ख
सब सिखाते हैं मुझे
चलते हुए
बोलते हुए
रोते हुए
हँसते हुए

सब सिखाते हैं मुझे
दोस्त और दुश्मन
अपने और पराए
खेत और खलिहान
धरती और आकाश

सब सिखाते हैं मुझे
मुझे इनसे मिलते है रंग
जीवन और मरण के
मिलने और बिछड़ने के
इतने सारे शिक्षक और मैं तिनका भर
पढ़ रही हूँ किताबों संग सबको
समझ रही हूँ किताबों के रूप
प्रकृति की रची पुस्तकें
उतनी ही जरूरी लगीं
जितनी स्कूल की किताबें...

रात

स्याह काली रात
चाँदनी सी उजली रात
कभी धूसर तो कभी मटमैली रात
अपने बाहें के झूले में मुझे बिठा लेती है

मुझे रात कभी अकेले नहीं मिली
जब भी मिली
कुछ सपनों के मोती पिरो गयी आँखों में....

दिन

कैसे - कैसे दिन
सुख के दिन
दुख के दिन
आशा और निराशा से भरे दिन

कैसे -कैसे दिन
मिलने का दिन
विदा होने का दिन
पहला दिन
आखिरी दिन

इतने सारे दिन
मैं देखती हूँ एकटक
दिन की यात्रा को
दिन है कि ठहरता ही नहीं।

कविता

बबीता कुमारी

भरोसा

हमें है भरोसा,
अपने काबिलियत पर।
अपने मंजिल को पाने की ॥
माता - पिता को है भरोसा,
अपने संतानों पर।
अपने दिए गए संस्कारों की ॥
माली को है भरोसा,
अपने कर्मों पर।
बगिया में फूल खिलने की ॥
हमें रखनी है,
इसी भरोसे पे भरोसा।
एक दिन अपने जीवन को
सफल बनाने की ॥

सृष्टि सिंह

पीएचडी शोधार्थी, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश। विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित

एक

गुलों से वादियाँ महकें, फ़लक पे बिखरे तारे हैं
जमीं से आसमाँ तक खुशनुमा लगते नज़ारे हैं

महावर से सजा तलवे उतरती नाजनीं शब जो
दिये जुगनू के जलते औ चमक उठते सितारे हैं

नई जो कोंपलें लगने लगीं हैं अब दरख्तों पे
हमारे बाग में फिर लौट कर आई बहारे हैं

दरीचे दिल की हैं नज़रें औ मुखड़ा आईना कोई
गुलों-सी मुस्कुराहट, पंखुड़ी-से लब वे प्यारे हैं

न मिट पाएगी खुद्दारी भले जाँ ही चली जाए
इसी इक शर्त पर रिश्ते सभी निभते हमारे हैं

पहाड़ों से उतर कितने ही दरिया जा मिले फिर भी
समंदर फित्रतन अब भी वही खारे के खारे हैं।

दो

नारी से जीवन सुरभित है, नारी घर का मान है
नारी से ही सृष्टि निरंतर, अनवरत गतिमान है

नारी है विश्वासरूपिणी, नारी प्रतिभाशाली है
दुर्जेय दुर्धर्ष समय में, महाशक्ति महाकाली है
माँ बन सृजन किया नर का, माँ बन हमको पाली है
हर दुविधा को दूर कराती, हर विपत्ति को टाली है
नारी त्याग की मूरत है, नारी पर अभिमान है
नारी से ही सृष्टि निरंतर अनवरत गतिमान है

नारी है इक शौर्य की मूर्ति, नारी लक्ष्मीबाई है
अंग्रेजों की फौज़ डरी, कोई दुर्गा काली माई है
दो हाथों में दो तलवारें, मुख में डोर समाई है
हाय हाय चहुँ ओर मचा, ये नर संहार को आई है
गौरव गाथा में नारी इक, हिंददेश की शान है
नारी से ही सृष्टि निरंतर, अनवरत गतिमान है

बेरंग तुम्हारे जीवन में जो रंग भरे वह रंगिनी है
विपदा में हर कदम साथ दे, नारी ऐसी संगिनी है
आँगन भर दे खुशियों से , जब रूप धरी वह नंदिनी है
मत मारो इक भार समझकर, वह प्रतिपल अभिनंदनी है
जिसको लहु से सींचा इसने , उससे ही परेशान हैं
नारी से ही सृष्टि निरंतर, अनवरत गतिमान है

सती सावित्री सीता है, जग उपवन की माली है
कल कल ध्वनि नदी की है, गीत ग़ज़ल कौव्वाली है
घर की लक्ष्मी,जग की रंगत, होली और दीवाली है
संकट ने जब भी दस्तक दी, नारी बनी भूचाली है
चाँदनी वाली यामिनी है, नारी नवल विहान है
नारी से ही सृष्टि निरंतर , अनवरत गतिमान है

दया विजय करुणा संघर्ष का, नारी इक संदेश है
मदर टेरेसा, इन्द्रा, सुनिता, नारी गौरी लंकेश है
पी वी सिंधु का लोहा लेता आज समूचा देश है
नारी ही पूजनीय जगत में, नारी ही सर्वेश है
नारी से शोभा है जग की, बिन नारी सुनसान है
नारी से ही 'सृष्टि' निरंतर, अनवरत गतिमान है।

तीन

हम न होते याँ अगर वो जोड़ता नाता नहीं
बाद उसके इस जहाँ में औ कोई भाता नहीं

हौसला मेरा है वो पर आजमा लेता है यूँ
दर्द जो इक बार उभरे फिर कभी जाता नहीं

खा के मेरे नाम की कसमें रिहा वो हो गया
जानते थे सब मेरी झूठी कसम खाता नहीं

क्या पता क्या दिल में उसके चल रहा मेरे खुदा
आजकल अच्छे से कोई बात बतलाता नहीं

रब बदल सकता नहीं उसके लिखे भी भाग्य को
जो मुकद्दर मेट कर खुद आप लिखवाता नहीं

जिंदगी के मोड़ पर हर साथ देता है खुदा
उसके जैसा इस जहाँ में कोई भी दाता नहीं

यह ज़मीं दिल की है गिरवी इक महाजन के यहाँ
कोई भरपाई भी उसकी क्यों तो कर पाता नहीं

तेरी यादें, तेरी बातें, ज़ख्म तेरे, ग़म तेरे
दिल के कूचे में सिवा तेरे कोई आता नहीं।

चार

नज़र से नज़र जब सँवारी गई
हरिक साँस तबसे उधारी गई

हक़ीक़त से जब सामना हो गया
पलक से उतरकर खुमारी गई

खुदा ने बनाई जो मूरत हसीं
तेरे रूप में वो उतारी गई

सियासी बहस में फ़ना हो चली
थी बचपन की यारी हमारी गई

ये माहौल कैसा बना देश का
मुहब्बत पे नफ़रत ही भारी गई

कभी रंग लाएँगे अहदे वफ़ा
इसी फ़िक्र में उम्र सारी गई।

पाँच

आज सुबह अखबार खरीदा
पूरा इक संसार खरीदा
देशो- दुनिया की खबरों का
आर खरीदा पार खरीदा

हिंद वतन पर पाक देश का
इक छोटा सा वार खरीदा

चीन देश को देखा मैंने
औरों से हथियार खरीदा

और सियासत बच ना पाई
नेता का घर बार खरीदा
इस सत्ता के अब क्या कहने
चुन-चुनकर लाचार खरीदा

दर्द खरीदी ज़ख्म खरीदा
विफल किसी का प्यार खरीदा
माँ की ममता जाते देखी
और पिता बदकार खरीदा

बाबाओं के झाँसे में आ
अंधभक्त लाचार खरीदा
मूल्य हनन होते समाज के
मानवता की हार खरीदा

महज़ नारियों से सुसज्जित
विज्ञापन बेकार खरीदा
संपादकी बड़ा मन भाया
अभिव्यक्ति अधिकार खरीदा

खेलकूद दुनिया की मैंने
जीत खरीदी हार खरीदा
घटती बढ़ती चलती रहती
सेंसेक्स बाजार खरीदा

कुछ विशेष पृष्ठों को देखा
तब सोचा इतवार खरीदा
ब्यूटी आए या ना आए
टिप्स जरूरी यार खरीदा

सत्य बोध साहित्य जगत में
गीतों की झंकार खरीदा
ज्ञान कराती लघुकथाएँ
और अहम सुविचार खरीदा
गिरती पड़ती मानवता का
तब मैंने उपचार खरीदा
जब कुरान की आयत देखी
जब गीता का सार खरीदा।

सत्यम भारती

प्रवक्ता, हिंदी साहित्य, राजकीय माडल इंटर कॉलेज, नैथला हसनपुर, बुलंदशहर, उत्तरप्रदेश
मोबाइल नंबर- 8677056002
प्रकाशित कृतियाँ- सुनो सदानीरा (ग़ज़ल-संग्रह), बिखर रहे प्रतिमान (दोहा-संग्रह)

1

बिखर रहा विश्वास आजकल
आम-जनों की आस आजकल

गांवों के सपने सलीब पर
शहरों में उल्लास आजकल

बहू रोज डिस्को जाती है
वृद्धाश्रम में सास आजकल

जनता के हिस्से बस जुमले,
प्रतिनिधि का मधुमास आजकल

दिल्ली खून-पसीना पीती
नहीं बुझ रही प्यास आजकल

कविगण मिल कोरस गाते हैं
कविता है परिहास आजकल

देख मंच की हालत 'सत्यम'
गदहों में उल्लास आजकल

2

तोड़कर अब पाँव की हर बेड़ियाँ
चाँद को छूने लगी हैं बेटियाँ

ढूँढता फिरता है वो भी खामियाँ
कर रहा है रात दिन जो गलतियाँ

आजकल महफूज दिखती हैं कहाँ
रक्स करती शाख की वो तितलियाँ

चार दिन के बाद ही मांगे बहू
मालकिन हूँ दे दो घर की चाबियाँ

वक़्त से पहले सयानी हो गयीं
जाल में फँसती कहाँ हैं मछलियाँ

3

प्यार और तकरार तुम्हीं से
फिर-फिर है मनुहार तुम्हीं से

पतझड़ मन का दूर करे जो
गुलशन और बहार तुम्हीं से

तुम तक ही मेरी कविताएँ
ग़ज़लों का विस्तार तुम्हीं से

सारी दुनियाँ तुममें दिखती
मेरा है संसार तुम्हीं से

सपने, ख़ुशबू, बादल, जुगनू
सबका कारोबार तुम्हीं से

4

क़दम-क़दम दो चार आदमी
दिखते हैं लाचार आदमी

जो आता है छल कर जाता
किसे कहूँ मक्कार आदमी

नफ़रत-हिंसा में घिरकर अब
बन बैठा अख़बार आदमी
बिक जाते हैं दो कौड़ी में
बिकने को तैयार आदमी

हक़ से वंचित दिखता है
जिसका था हक़दार आदमी

5

मर-मरकर यों जीना क्या
रोज ज़हर यूँ पीना क्या
घायल हर दिन होना है,
चाक जिगर फिर सीना क्या

रोटी में ही उलझे हम
मक्का और मदीना क्या

सबके हिस्से दुखड़ा है
रानी, मोनू, रीना क्या

तुझसे बढ़कर जीवन में
कोई और नगीना क्या

कविता

पुष्पेश कुमार पुष्प

विनीता भवन, निकट- बैंक ऑफ इंडिया,
काजीचक, सवेरा सिनेमा चौक, बाढ़, बिहार
Email- ushpeshkumar530@gmail.com

जीवन की वीरानगी में

जीवन की वीरानगी में भटकता इंसान,
अपनी तृष्णा की खोज में,
जैसे भटकता हिरन कस्तूरी की खोज में।
जो अज्ञान के अंधकार में डूबे,
भोग-विलास के सागर में गोते लगाते,
वे सिखाते हैं ज्ञान और वैराग्य की बातें।
मन का अंधेरा कैसे मिटे ?
यहां हर ओर फैला धर्म-कर्म के,
आवारण में ढोंगियों-पाखंडियों का संसार।
आओ ज्ञान का दीप जलाये,
मन के अंधियारे कोने में,
जहां ज्ञान, कर्म और वैराग्य का हो वास ,
जिसमें हर जीव के प्रति हो दया और करुणा का भाव।
अपनी आशा-तृष्णा का मोह मिटाकर,
दया-धर्म के पथ पर चलकर,
छू लो महानता की बुलंदियों को।

मी टाइम

रंजना जायसवाल

स्वतंत्र लेखन, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर की पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ नियमित रूप से प्रकाशित होती रहती हैं। वर्तमान में मिर्ज़ापुर, उत्तर प्रदेश में निवासरत हैं।

"अभीर यह क्या तरीका है, तुम्हारी मम्मी जब देखो तब किसी न किसी बहाने से कमरे में चली आती है।"

"क्या हुआ टिया तुम इतनी नाराज़ क्यों हो?"

आज टिया आपे से बाहर थी,

"मेरी भी अपनी जिन्दगी है, सब कुछ तो कर रही हूँ। फिर भी..."

"साफ़-साफ़ बताओगी, आखिर हुआ क्या है ?"

अभीर का धैर्य अब जवाब देने लगे था।

"एक दिन की बात होती तो ठीक थी; पर अब तो यह रोज़-रोज़ की बात हो गई है। कभी ब्लड प्रेशर चेक कराने, कभी कफ सिरप के ढक्कन खोलने तो कभी कुछ। आज तो हद ही हो गई।"

"हुआ क्या है साफ़-साफ़ बताओगी या फिर बस पहेलियाँ ही बुझाती रहोगी।"

अभीर का धैर्य अब गुस्से में बदलने लगा था।

"घर का काम निपटा कर बस लेटी ही थी कि तुम्हारी मम्मी..."

"तुम्हारी मम्मी-तुम्हारी मम्मी क्या लगा रखा है वो तुम्हारी भी तो कुछ लगती हैं?"

अभीर ने चिढ़ कर कहा- "वो तुम्हारी ही मम्मी है, मेरी मम्मी होती तो मेरे मी टाइम एक्सपॉयल करने नहीं आ जाती। क्या वो टीवी के रिमोट की बैट्री भी बदल नहीं सकती। एक दिन की बात होती तो अलग बात थी पर वो रोज़-रोज़ मेरे मी टाइम को बर्बाद करने के लिए तैयार खड़ी रहती हैं। आखिर मेरी भी तो जिंदगी है?"

टिया की आवाज़ दूसरे कमरे तक आ रही थी। उम्र के इस पड़ाव पर मंजरी जी को वैसे तो थोड़ा ऊँचा ही सुनाई देता था पर आज उन्हें सब कुछ साफ़-साफ़ सुनाई भी दे रहा था और दिखाई भी!

मी टाइम! कितना अलग सा शब्द था उनके लिए, कानों के लिए भी शायद अपरिचित ही था। शायद इसीलिए जब भी उनकी बहू यह शब्द बोलती उनके कान आज्ञाकारी बच्चों की तरह खड़े हो जाते। मंजरी जी भी शिक्षित थी मनोविज्ञान से पोस्ट ग्रेजुएशन किया था उन्होंने...पर आजकल की लड़कियों की तरह शब्दों के शार्ट फॉम उन्हें नही आते थे।

आज़कल की लड़कियों की तरह उनकी उंगलियाँ की बोर्ड और माउस पर नहीं बेलन और कलछुल पर चलती थी, शायद इसीलिए उनकी पीढ़ी के लिए उनकी शिक्षा का कोई महत्व नहीं था कितना फर्क था इस पीढ़ी और उनकी पीढ़ी में...

"पढ़ाई का मतलब नौकरी करना ही नहीं है, वैसे भी हमारा लड़का इतना पढ़ा-लिखा है, लड़की तो पढ़ी-लिखी होनी ही चाहिए। हमारी दोनों बहुएँ भी पढ़ी-लिखी हैं, कम से कम अपने बच्चों को तो पढ़ा सकेंगी।"

यही तो कहा था उनके ससुर ने और मंजरी जी ने भी उनकी बात को सर माथे लगा लिया था पर शिक्षित मन को समझा पाना इतना आसान भी नहीं था। एक बार दबे स्वर में उन्होंने अभीर के बाबू जी से कहा भी था।

"इतनी पढ़ाई की है,उसे यूँ जाया तो नहीं होने दे सकती। किसी स्कूल में..."

"जरूरत क्या है नौकरी करने की जब पति ठीक-ठाक कमा रहा है तो... अब क्या इतना बुरा वक्त आ गया है कि मैं बीबी के टुकड़ों पर पलूँ। जितना कमा रहा हूँ उसमे रहना सीखों। दुनिया क्या सोचेगी लगता है घर के हालात बेहतर नहीं है इसलिए घर की औरतों को काम करने के लिए बाहर निकलना पड़ रहा है।"

अभीर के बाबू जी ने कुछ कहने का मौका ही कहाँ दिया था। शब्द गले में अटक कर रह गए। उनकी दुनिया घर की चहारदीवारी और अभीर तक ही सीमित रह गई।

"अपने ही बच्चे का भविष्य न बना सकी तो बाहर के बच्चों का भविष्य बनाकर क्या फायदा?"

यही तो कहा था अभीर के बाबू जी ने...एक अजीब सा डर उनके मन मे बैठ गया था। सच ही तो कहते हैं अभीर के बाबू जी उनका जो बनना बिगड़ना था वह बन बिगड़ गया अब तो अभीर पर ही ध्यान देना था।

अभीर की शैतानी दिन भर दिन बढ़ती जा रही थी, एक जगह बैठना तो मानो उसने सीखा ही नहीं था। कोई न कोई शिकायत लेकर आता ही रहता था। अब तो घर वाले भी परेशान हो गए थे।एक दिन बाबू जी ने उसके कान उमेठते हुए कहा था,

"सुधार जा वरना तुझे हॉस्टल भेज देंगे, सारी बदमाशी खत्म हो जाएगी। बुद्धि दुरस्त हो जाएगी तेरी..."

हॉस्टल के नाम पर अभीर ही नही मंजरी भी डर गई थी, मानो हॉस्टल न हो काले-पानी की सजा हो।

पर वक्त बदला और वक्त के साथ सोच भी बदली। घर वालों की सोच अचानक से बदल गई थी। पढ़ी-लिखी बहू आज भी सबको चाहिए थी पर अब पढ़े-लिखे होने के साथ-साथ नौकरी करने वाली हो तो अच्छा रहेगा क्योंकि बेटे की कमाई से घर कैसे चल सकता है। महंगाई आसमान पर है, एक आदमी की कमाई से कैसे काम चलेगा। बच्चों का भविष्य भी बनाना है पहले जहाँ बहुएँ इसलिए पढ़ी-लिखी लाई जाती थी कि वह बच्चों को पढ़ा सके। आज वही पीढ़ी अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए ट्यूशन और कोचिंग भेज रही है। अच्छे भविष्य के लिए उन्हें हॉस्टल भी भेजा जाने लगा। बच्चे की जीवन की प्रथम पाठशाला माने जाने वाला परिवार अचानक से जागरूक अभिवावक माना जाने लगा।

आखिर इतनी पढ़ी-लिखी बहू लाने का मतलब क्या रहा?

टिया की बात सुन मंजरी जी का मन दुखी हो गया। कितना अलग था उनका जीवन... पन्द्रह लोगों के परिवार में खुद के लिए सोचने का कभी वक्त ही नहीं मिला। चूल्हे-चौके से कभी फुर्सत ही नहीं मिली, पीठ सीधी करने के लिए कमरे में जाती भर थी कि कोई न कोई टपक पड़ता फिर चाय-पानी के दौर में खुद के लिए सोचने जैसी कभी चीज़ ही नहीं रही। शादी के पहले नाचने-गाने का कितना शौक था। उन दिनों शहर में कुकिंग क्लास का सेंटर खुला था दस तरह की पनीर की सब्जी और पाँच सूखी सब्जी सिखाने का तीन सौ रुपए लेते थे।

"जा बिटिया सीखे ले ससुराल में काम आएगा।"

अम्मा ने मंजरी पर दबाव बनाया था,

"अम्मा तुम जो बनाती हो वही सीख लूँ बहुत है, ये सब बड़े लोग के चोंचले हैं।"

पतियों के बगुले से झक सफ़ेद रुमालों के कोर में लटकती क्रोसिए के सफ़ेद धागे और उनके नाम का पहला अक्षर उनके दिलों और जिन्दगी में औरतों की वजूद और मौजूदगी को जता नहीं सके। बाएं हाथ की पहली उंगली में तेजी से लपेटे जाते सफ़ेद धागे देखकर लगता मानो वह अपनी जिम्मेदारियों और सपनों को एक साथ लपेट रहे हैं और वे धागे जब परत दर परत खुलते तो एक नई आकृति, एक नई कलाकृति का रूप ले लेतीं जो उनके बेजान कपड़ों की तरह बेजान पड़ी जिंदगियों को संवारने का निरर्थक प्रयास करती।

"बिटिया गुण कभी बेकार नहीं जाता, हम को तो बस वही मटर पनीर, पालक पनीर और मखाना पनीर के सिवाए कुछ भी नहीं आता। सुना है शादी में जो सब्जियाँ खाने को मिलती है वो सब सिखाते हैं। ससुराल वालों के दिल तक पहुँचने का रास्ता पेट से होकर जाता है। सासु माँ का पारा जब गर्म हो तो झट से बढ़िया वाली सब्जी बनाकर खिला देना।"

मंजरी जी अम्मा को याद कर मुस्कुरा दी, कितनी भोली थी अम्मा कहाँ जानती थी उस घर में सास नहीं ससुर को खुश रखना जरूरी था। ससुर जी की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता था। सुबह से शाम तक का मेन्यू ससुर जी ही तय करते थे।

"रोज़-रोज़ पनीर...घर में भैंस लगती है क्या? वैसे भी रोज़-रोज़ मसालेदार सब्जी सेहत के लिए ठीक नहीं है।"

हफ़्ते में कभी-कभार पनीर की सब्जी बनती, सबको पसन्द भी आती पर घर की औरतों की थालियों तक शायद ही पहुँच पाती। उनकी दुनिया रस्से और अचार तक सीमित थी। वे अचार और चटनी में ही अपने स्वाद को ढूंढ लेती। कितनी अलग थी उन दिनों औरतों की दुनिया...सिंधी कढ़ाई, भरवा कढ़ाई, काथा से कढ़े मेजपोश, थालपोश, पर्दे, साड़ियों और चादरों में रंगीन धागों की लच्छियों से काढ़े गए बेजान कपड़े उनके हाथों की कारीगरी से खिलखिलाने लगती पर उनका जीवन किसी भी रंगीन लच्छी से किसी भी कढ़ाई से ख़ुशगवार नहीं हो सका। उन्होंने अपनी जीवन

में रंग भरने के लिए फिर ज़ोर मारा और अब वह बाज़ार से दो रंग वाली लच्छियाँ लेने लगी पर उनका यह प्रयास भी विफल रहा।रोज़ कढ़ाई भी उनके जीवन में खुशियों के फूल नहीं खिला सके।

मन में ख्वाहिशों को न पूरा हो पाने का मलाल एक गांठ कढ़ाई की तरह रहा, वे जिन्दगी भर अपने ही सपनों को कंधों पर खींचती रही पर कोई जंजीरा कढ़ाई उनका सहयोग न कर सकी।

पतियों के बगुले से झक सफ़ेद रुमालों के कोर में लटकती क्रोसिए के सफ़ेद धागे और उनके नाम का पहला अक्षर उनके दिलों और जिन्दगी में औरतों की वजूद और मौजूदगी को जता नहीं सके। बाएं हाथ की पहली उंगली में तेजी से लपेटे जाते सफ़ेद धागे देखकर लगता मानो वह अपनी जिम्मेदारियों और सपनों को एक साथ लपेट रहे हैं और वे धागे जब परत दर परत खुलते तो एक नई आकृति, एक नई कलाकृति का रूप ले लेती जो उनके बेजान कपड़ों की तरह बेजान पड़ी जिंदगियों को संवारने का निरर्थक प्रयास करती। टिनोपाल से धुले झक्क पेटीकोट के नीचे से झाँकती क्रोशिए की लेस उनकी सुघड़ता को दर्शाती पर उनके जीवन को सहेज और संवार नहीं पाती।

> **घर में रहते-रहते वह बोर हो जाती है। अकेलेपन की वजह से उसे डिप्रेशन की प्रॉब्लम हो गई है । यह पीढ़ी शायद खुद भी नहीं जानती उन्हें क्या चाहिए । अकेलापन से जूझता मन डिप्रेशन का शिकार हो रहा और इन्हें खुद के लिए मी टाइम भी चाहिए ।**

क्रोशिए की सलाई की नोंक उनके सपनों में छेद करती रही और उनकी इच्छाओं को लहूलुहान...वक्त के साथ उंगलियों में लपेटे गए रूई की तरह सफेद धागे के वजन के पीछे पतली होती उंगलियां उन हाथों के रंगीन सपनों और अरमानों को भी सफेद करते चले गए।हर चेन के साथ बढ़ती नक्काशी लोगों की आँखों में उन कुशल हाथों के लिए प्रशंसा से भर देती पर हर घना जाल उनके जीवन को पहले से अधिक उलझन से भर देता पर वह खुश थीं। क्योंकि अपनी खुशी को उन्होनें जाना ही कहाँ था। परिवार की खुशी और उनके चेहरों पर पसरा संतुष्टि का भाव उनके खुश रहने के लिए पर्याप्त था। सबसे बड़ी बात पीहर तक उनकी शिकायतों का पुलिंदा और अम्मा-बाबू जी शर्मिंदगी से झुके हुए चेहरों को देखने की ताकत उनमें अब बिल्कुल भी नहीं थी। हर बार जब भी वह पीहर आती, अम्मा पानी परोसने से पहले सबसे पहले एक ही सवाल पूछती।

"ससुराल में सब ठीक है ना?

शायद बेटी से ज्यादा उन्हें ससुराल की चिंता थी। क्योंकि ससुराल का सुखी और संतुष्ट होना बेटी के सुखी होने की निशानी थी। यह डर वक्त के साथ कम तो जरूर हुआ था पर खत्म नहीं हुआ था। पीढ़ियाँ बदली पर डर अभी भी कायम था शायद इसीलिए अभीर की शादी के वक्त टिया की माँ ने विदाई के समय उनका हाथ पकड़ते हुए कहा था,

"टिया नादान है, इसकी गलतियाँ बेटी समझकर माफ़ कर दीजिएगा, आपकी बेटी की तरह ही है।"

न जाने मंजरी जी को ऐसा क्यों लगा था मानो वह पूछना चाहती हो,

"बेटी है न ?"

कितना फर्क था दोनों पीढ़ियों में... मंजरी जी ने कितनी रातें तकिया भिगो कर आँखों में काटी थी। जानती थी विकल्प नहीं थे उनके पास...जिस युग मे डोली और अर्थी एक ही दहलीज़ से उठने की बात कही जाती थी वहाँ विकल्प के रास्ते स्वतः ही बन्द हो जाते थे।कभी-कभी लगता घर के दरवाजे भले ही बन्द हो पर मन के कपाट हमेशा खुले होने चाहिए पर चाहिए और होने में हमेशा फ़र्क रहा है।

अम्मा ने हमेशा यही समझाया था,

"आँसुओं को या तो पी जाना या फिर बहा देना पर उस खारे पानी के कारणों को कभी जाहिर नही करना।"

यह दर्द उनके अकेले का तो नहीं था। कितनी बार बड़ी भाभी जी तो कभी देवरानी तो कभी-कभी सासु जी के चेहरे पर पसरे भी देखा था।सूजी आँखों के नीचे स्याह घेरे रात के फ़लसफ़े को बयां कर देती और हम सब एक-दूसरे के दर्द को जानकर भी अनजान बने रहते। एक छत के नीचे सांस लेते थे,एक साथ सुख भी बाँट लेते थे पर दुःख?

आज टिया को अपने पति से उनकी शिकायत करता देख न जाने क्यों उन्हें अजीब लगा था...हाँ अपने पति...क्योंकि अभीर उनके बेटे के साथ-साथ अब टिया का पति भी था,वो लड़ रही थी खुद के समय के लिए जिसमें वह खुल कर सांस ले सके, सोच सके अपने बारे में, बुन सके अपने सपनों को, संवार सके खुद को और एक नींद ले सके अपने थके हुए शरीर के साथ...कितना फर्क था उनकी जिंदगियों में वह तीन लोगों के परिवार में ख़ुद के लिए समय ढूंढ रही थी और मंजरी पन्द्रह लोगों के परिवार में मैं, मेरा, मुझे जैसा शब्द कब का भूल चुकी थी।

वक्त के साथ परिवार बिखर गया था।एक थाली में खाना खाने वाले भाई-बहन चचेरे हो गए थे, जेठानी-देवरानी पट्टीदार बन चुके थे। मंजरी जी भी पति की मृत्यु के बाद इकलौती बेटे-बहू के साथ

रहने मुम्बई आ गई थी। वक्त के साथ आदतें भी बदल जाए ये जरूरी तो नहीं... सबसे अंत में टाट पट्टी बिछाकर एक साथ खाना खाने वाली बहुएँ आज अलग-अलग शहरों में डाइनिंग टेबल पर अकेले खा रही थी। आज उनकी थालियों में अचार चटनी के साथ पनीर भी बराबर परोसा जा रहा था पर अब उस पनीर की सब्जी में न तो स्वाद महसूस होता था न उन्हें खाने की इच्छा शायद जीभ ने भी स्वाद के साथ समझौता करना सीख लिया था।

मंजरी जी का मन न जाने कैसा-कैसा हो गया। बरसों की आदत यूँ ही तो नहीं जाती। तीन लोगों के परिवार में तीन लोग तीन समय पर खाना खाते थे। इस उम्र में खाना पचता नहीं था।टिया उनके हिस्से का खाना डाइनिंग टेबल पर रख देती थी। मंजरी जी दिन में कई बार टिया के कमरे में झांक आती, इस उम्मीद के साथ शायद कुछ पहर वह उनके साथ बिता ले।अकेले तो सुख भी नहीं पचता खाना भला कैसे पचता।बात किए बिना उन्हें नींद नहीं आती थी पर उन्हें क्या पता था शहरों के घर के कमरे ही नहीं बल्कि उन घरों में रहने वालों के दिल भी छोटे होते हैं।

टिया अपनी जगह सही थी, कम से कम उसे यह कहने की हिम्मत तो थी। वह जीवन भर अपने लिए अपना समय ढूंढती रही पर वह समय कभी ना मिला। वह तो यह बात भूल भी चुकी थी खुद के लिए भी समय होता है। कम से कम इस पीढ़ी ने अपने लिए समय मांगना और उसके लिए लड़ना तो शुरू किया पर...

एक दिन टिया अभीर से अपनी सहेली के बारे में बात कर रही थी।घर में दो प्राणी है, उसके पति सुबह नौ बजे ही ऑफिस के लिए निकल जाते हैं और देर रात तक लौटते हैं। घर में रहते-रहते वह बोर हो जाती है। अकेलेपन की वजह से उसे डिप्रेशन की प्रॉब्लम हो गई है। यह पीढ़ी शायद खुद भी नहीं जानती उन्हें क्या चाहिए। अकेलापन से जूझता मन डिप्रेशन का शिकार हो रहा और इन्हें खुद के लिए मी टाइम भी चाहिए।

मंजरी जी निराश होकर कमरे में चली गई। रात करवटे बदलते बीत गई,नींद जाने कब लगी। अभीर उन्हें ढूंढता हुआ कमरे में आ गया, उसने कमरे का पर्दा खोला सूरज की तेज रोशनी उनके चेहरे पर पड़ रही थी। आँखों पर चश्मा चढ़ा हुआ था और सीने पर किताब रखी हुई थी। शायद किताब पढ़ते-पढ़ते उन्हें नींद लग गई थी। मंजिरी जी का चेहरा एकदम शांत था जैसे कोई बड़ा बोझ उनके दिल से उतर गया हो। अभीर ने आवाज दी,

"माँ उठो न सर सूरज सर पर चढ़ा आया है और आप अभी तक सो रही है।"

मंजरी जी वैसे ही पड़ी रही। मंजरी जी इतनी देर तक कभी नही सोती थी। कहीं उनकी तबीयत तो ख़राब नहीं, अभीर ने उनके माथे पर हाथ रखकर उन्हें जगाने का प्रयास किया। वह वैसी ही पड़ी रही। शरीर एकदम ठंडा था। अभीर के चेहरे पर पसीने की बूंदें चूह-चूहा गई। उसने घबरा कर टिया को आवाज दी।

"टिया-टिया !"

टिया किचेन में चाय चढ़ा रही थी, अभीर की आवाज सुन वह भी घबरा गई, वह घबराकर मंजरी जी के कमरे की तरफ़ दौड़ी। अभीर की आँखों से आँसू बह रहे थे और मंजरी जी का निर्जीव शरीर बिस्तर पर पड़ा हुआ था। मंजरी जी इस संसार से जा चुकी थी शायद अपने मी टाइम की तलाश में जो उन्हें जीते जी कभी ना मिला।

संदेह की रेखा

अमित कुमार चौबे

शोधार्थी, हिन्दी साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
ईमेल –amit93678@gmail.com

गली के आखिरी मकान में वह रहने आया था। सब कहते हैं उससे दूर रहो। मुस्लिम है। बड़ी दाढ़ी और बड़ी आंखे काला चेहरा सच में डरावना होता है। फिल्मों में बचपन से देखते आ रही हूँ कि ऐसे लोग अक्सर गुंडा होते हैं। इस देश में मुस्लिमों की स्थिति कौन नहीं जानता है, स्टीरियो टाइप से उन्हें जाना जाता है। इतिहास पढ़ते हुए मिश्रा सर से अक्सर सुनती थी...देश के विभाजन में इनका बड़ा हाथ था। जाने क्याहुआ था, मुझे सही-सही नहीं पता। इतिहास को जिसने जैसे चाहा, वैसे प्रस्तुत किया। किसी ने अपने ढंग से तो किसी ने सरकारों के कहने पर। यह मेरा केवल एक अनुमान है। बाकी समय जाने क्या हुआ था क्या नहीं? मुझे कभी भी इतिहास पसंद नहीं आया। मैं वर्तमान में जीने वाली बिंदास लड़की हूँ। जिस घर में वह रहने आया था, वह घर बरसों से बंद पड़ा था। अकील अंकल अब दुबई में रहते थे। माँ बताती हैं कि जब वह यहाँ थे तब इस गली में रौनक थी। पर जब से शर्मा अंकल इस कॉलोनी में आए तब से यह गली निरस और वीरान हो गई। इस कॉलोनी का कुछ खो सा गया। शर्मा अंकल के आने के बाद अकील अंकल को सब आतंक का सरगना समझने लगे थे। कहीं भी कोई आतंकी घटना घटती जिम्मेदार उन्हें समझा जाता कि इनकी कौम वालों ने किया है। क्या सच में कुछ लोगों के किए की सजा पूरी कौम को देनी चाहिए। मुझे याद है मुंबई की घटना के बाद मेरी दोस्त फ़ातिमा तकरीबन एक महीने तक कॉलेज नहीं आई थी। पूरी क्लास उसे अजीब नजरों से देखने लगी थी। अजीब नजर क्या होती है? किसी को घुरकर देखना या घूरते रहना तब-तक जब-तक कि वह अपना गुनाहकबूल न कर ले। फ़ातिमा के साथ भी तो ऐसा ही हुआ था। उसे आते-जाते उठते-बैठते सब जगह घुरा जाने लगा था। एक समय के लिए मैं भी तो उससे दूर होने लगी थी। जब ये बातें मैंने माँ को बताई तो मेरी अनपढ़ माँ पढ़े-लिखे पिता से कहीं ज्यादा समझदार लगी थी। माँ ने उस समय कहा था कि 'वक्त की मार है अंधेरा तभी आता है जब रोशनी चली जाती है। तो उसके अंधेरे को नहीं, तुम फ़ातिमाकी रोशनी को देखो' माँ के इस वाक्य ने मुझे फ़ातिमा के और करीब कर दिया। आज वह दूसरे शहर में है लेकिन वह मेरे दिल के सबसे करीब है...।

पड़ोस में अकील अंकल के यहाँ जो लड़का रहने आया था, उसे लोग शोयब नाम से जानते थे। मैंने देखा है उसे सफ़ेद कुर्ता-पजामा पहने, सर पर सफ़ेद टोपी लगाए, करीब छः फुट का, उम्र यही कोई अट्ठाईस साल रही होगी। कहने वाले कह रहे थे कि अकील ने किसी आतंकवादी को अपना घर बेच दिया है ताकि वह हम सबको मिटा सके। जब भी वह गली से गुजरता लोग उसे घूर कर ही देखते। उसके गुजरते हुए मैं बालकनी में होती तो पिता जी मुझे डांटकर घर के अंदर कर देते थे। अक्सर मैं सोचती क्या गुनाह था उसका? केवल इतना कि वह...। कुल मिलकर इस मित्तल कॉलोनी में जाने कहाँ से बारूद का बोरा आ गया था। कब कहाँ फट जाए इसकी चर्चा रोज होने लगी थी। इस कॉलोनी पर सबका बराबर का अधिकार था इसलिए उसे भगाया नहीं जा सकता था। मेरी बालकनी से उस घर की बालकनी साफ दिखती थी जिसमें वह रहता था। अक्सर मैं सुबह शाम उसे देख लेती थी। उसकी भी नजर मुझ से टकराती और मैं एक हल्की सी मुस्कान मुस्का देती। वह सहमकर जल्दी से अंदर चला जाता था। आखिर वह इस गली में माइनर था। गैर हिन्दू होने के कारण उसे डर था कहीं कुछ गलत न तो जाए। आखिर हिन्दी सिनेमा में कुछ इसी तरह का सीन तो

दिखाया जाता है कि आतंक फैलाना केवल मुस्लिमों का काम है।

करीब रात के बारह बज चुके थे। नींद आँखों से कोसों दूर थी। उमस से बुरा हाल था। मैंने बालकनी का दरवाजा खोला तो देखा शोयब अपनी बालकनी में सिगरेट पी रहा है। चाँद की हल्की रोशनी में उसे आसानी से देखा जा सकता था। एक मैं ही तो थी जो उसे मनुष्य रूप में देखती थी। वह किसी से फोन पर बात कर रहा था। लाइट जाने और सन्नाटा होने के कारण मैं उसकी बात सुनने की कोशिश करने लगी। वह फोन पर दूसरी ओर किसी से कह रहा था “पता नहीं मुझे यहाँ और कितने दिन रहना होगा, यह गली बहुत बेरहम है। जाने कैसे अकील अंकल यहाँ रहते थे।” मैं इतना ही सुन पाई थी कि उसकी नजर मुझ पर पड़ गई और वह तेजी से घर के अंदर चला गया। मेरे दिमाग में यह बात कौंध गई कि “यह गली बहुत बेरहम है”...मैंने उसे देखा है वह अक्सर डरा और सहमा सा दिखाई देता है। रोज सुबह वह चला जाता है और शाम होने के बाद ही घर वापस आता है। जाने किस बात का उसे डर था, वह क्यों यहाँ आया था...यह एक रहस्य बना हुआ था। किसी ने कभी जानने की कोशिश तक नहीं की, वह क्यों आया है? मगर नफरत के बीज सबके मन थे। यह सोचती हुई मैं अपने कमरे में आ गई। अब तक लाइट आ चुकी थी और आँखों में नींद की दस्तक भी।

सुबह जगने के बाद देखा कि आसमान में बादल छाए हुए हैं। कभी भी बारिश हो सकती है। मैं जल्दी से तैयार हो कॉलेज के लिए निकल गई। तकरीबन 2 बजे बारिश की बूँदा-बाँदी होने लगी। मेरी सहेली नीति और मैं कॉलेज से कुछ ही दूरी पर चाय पीने के लिए चले गए। सोचा मौसम अच्छा है तो चाय का मजा लिया जाए। चाय पीते हुए मैंने नीति को शोएब के बारे में बताया। नीति ने मुसकुराते हुए कहा कि “देख यार बात ठीक है, लेकिन यह तो हमारे समाज का हिस्सा है। लोगों की सोच यही है। जब तू भी उनके बीच अकेली होगी तू भी ऐसे ही लोगों का सामना करेगी।” मैंने कहा “हाँ मगर यह सही भी नहीं कि वह सबके लिए खतरनाक हो?”

नीति “देख यार यह बात एकदम सही है कि वह खतरनाक नहीं...लेकिन इस बात पर यकीन कौन करेगा? क्या तुम जैसा सोचती हो...वैसे ही तुम्हारे घर वाले सोचते होंगे? ऐसी कई घटनाएँ समाज में उपस्थित हैं जिसे देखकर यकीन कर पाना बहुत मुश्किल है।”

मैंने कहा “बात तो तेरी ठीक है...लेकिन क्या किसी को इस तरह से सोसायटी में जलील करना हमारी संस्कृति का हिस्सा है?”

नीति ने कहा “हमारी संस्कृति सदियों से संक्रमित होती रही है...नफरत का बीज किसने कब और कहाँ बोया यह कहना मुश्किल है? मगर यह कहना बहुत आसान है कि किसी ने तो इसकी शुरुआत की होगी” बारिश के साथ हमारी बातें भी बढ़ती जा रही थीं। तभी मेरी नजर दूसरी तरफ गई और वहाँ एक व्यक्ति खड़ा था। पूरी तरह से भीगा हुआ और चाय का प्याला अपने हाथ में लेकर एक तरफ बैठ गया। उसके साथ दो लोग और थे। शायद साथी होंगे। मैंने नीति से कहा “देखो वह वही है” नीति भी उसकी तरफ देखने लगी और उसने कहा कि “यह कोई खतरनाक व्यक्ति नहीं जितना कि तेरे सोसायटी वाले समझ रहे हैं” मैंने झट से कहा “तो क्या मैं जाकर उससे बात करूँ?” नीति ने कहा यह सही नहीं होगा क्योंकि यह सही समय नहीं है और हम कॉलेज से कुछ ही दूरी पर हैं। यह चाय की दुकान कॉलेज के लिए जनरल दुकान है। यहाँ तेरे सोसायटी के और भी बच्चे आते हैं। मुझे लगता है यह समय थोड़ा सही नहीं है। मगर नीति की मैंने एक न सुनी और मैं किसी तूफान की तरह उसके पास जाकर बोली...“हैलो मैं...” उसने मेरी बात को बीच में काटते हुए कहा “देखिए मैं यहाँ कुछ दिनों के लिए आया हूँ और आप से गुजारिश है आप चलीं जाएँ” मैंने कहा ‘मगर मुझे आपसे बात करनी है’ वह कुछ देर मेरी तरफ देखने के बाद बोला कि ‘मगर यह गुफ्तगू का सही समय और जगह नहीं है। कल दोपहर तीन बजे मैं आपसे चिल्ड्रेन पार्क में मिलूंगा। आप वहीं आ जाईएगा’ उसी समय एकाएक मेरे दिल में खयाल कि इन दिनों लव-जिहाद के मामले तेजी से अखबारों कि सुर्खियां बटोर रहे हैं। लंबी बहसें चल रही हैं कि हिन्दू लड़कियों को प्रेम के नाम पर धर्म-परिवर्तन के लिए उकसाया जा रहा है। शायद यही वजह रही होगी कि शोयब ने

> **इस देश में मुस्लिमों की स्थिति कौन नहीं जानता है, स्टीरियो टाइप से उन्हें जाना जाता है। इतिहास पढ़ते हुए मिश्रा सर से अक्सर सुनती थी...देश के विभाजन में इनका बड़ा हाथ था। जाने क्याहुआ था, मुझे सही-सही नहीं पता। इतिहास को जिसने जैसे चाहा, वैसे प्रस्तुत किया। किसी ने अपने ढंग से तो किसी ने सरकारों के कहने पर। यह मेरा केवल एक अनुमान है। बाकी समय जाने क्या हुआ था क्या नहीं? मुझे कभी भी इतिहास पसंद नहीं आया। मैं वर्तमान में जीने वाली बिंदास लड़की हूँ।**

खुलेआम यहाँ बात करने से इंकार कर दिया। उसके इंकार के बाद मैं वापस अपने दोस्त के पास चली आई। और सोचने लगी कि कितना डरावना समय आ गया है? उसने पार्क में मुझसे मिलने को कहा है? क्या यह सही है? लेकिन अगर सही है तो क्या मेरा जाना उचित होगा? मेरा दिल और दिमाग एक दूसरे सेयही सवाल और जवाब करते रहे...मगर इन सभी प्रश्नों का कोई वाजिब उत्तर नहीं मिल सका। जाना गलत भी है और सही भी है।

दूसरे दिन सुबह तड़के मैं उठ गई। पूरी रात नींद और मेरे बीच जंग होती रही लेकिन नींद ने आखिरकार फ़तह हासिल की। मन में एक अजीब सी बेचैनी थी...प्रश्नों का सैलाब मन में हिलोरे ले रहा था। सुबह से ही मुझे तीन बजे का इंतजार था। कब ये बाकी पल बीत जाएं और मैं उससे मिलने चली जाऊँ। आखिर किसी तरह ये समय के काले बादल छंट गए और जिस सुनहरे पल की मुझे तलाश थी, वह आ गया। मैं तकरीबन एक बजे घर से निकल गई। शहर के दूसरे हिस्से में चिल्ड्रेन पार्क था। घर से जाने में मुझे तकरीबन 45 मिनट का वक्त लगता। लेकिन आज मैं जल्दी जाना चाहती थी। घर से निकलकर मैंने आटो लिया। माँ कह रही थी स्कूटी से जाऊँ, मगर मैं घर वापस आने में वक्त लेना चाहती थी। इसलिए आटो से गई। ऐसा करने के पीछे मेरे पास एक वाजिब बहाना था, कि आने में मुझे जल्दी आटो नहीं मिल सका। उस एक पल के लिए कितना कुछ मैं सोच रही थी। रास्ते में मैंने नीति को साथ ले लिया। वह साथ होगी तो बहाना होगा कि हम घूमने गए थे। शहर का अधिकांश हिस्सा पिता जी को जानता था। किसी ने अगर देख लिया तो आफत आ जाएगी। ऐसी आफत कि पूछो न...।

इतिहास सबका अलग है। जो सदियों पहले हुआ उसकी सज़ा हमें क्यों दी जाती है। क्या चंद लोगों के जिहादी होने से सारी कौम तो जिहादी नहीं हो जाएगी' उसने बात तो एकदम तार्किक की...मगर उसकी तार्किकता में दर्द ज्यादा था। सच ही तो कह रहा था, कुछ लोगों के जिहादी होने से सारी कौम तो जिहादी नहीं बन सकती है।

दो बजे ही चिड्रेन पार्क के गेट पर नीति और मैं पहुँच चुके थे। अभी एक घंटा बचा था। जब हम पार्क के अंदर गए तो देखा कि हमारे पड़ोस के शर्मा जी किसी सज्जन के साथ बैठे थे। उनको देखकर मैंने जल्दी से अपना फेस कवर करके पार्क के दूसरे हिस्से में चली गई। नियति को जाने क्या ही मंजूर था। शर्मा जी को भी आज के दिन ही यहाँ आना था। मैं इंतजार करने लगी कब वे जाएं और चेहरे से मैं अपना नकाब हटाऊँ। नकाब आपकी पहचान को छुपा देता है। वही तो मैं कर रही थी। इसलिए मैंने अपने चेहरे को नकाब से ढँक रक्खा था। एक छोटे से पीपल के पेड़ के नीचे हम दोनों बैठ गए, लेकिन सबसे बड़ी समस्या ये है कि अगर शर्मा जी निर्धारित वक्त पर नहीं गए, तो जिस आदमी से मैं मिलना चाहती थी, वह मुझे नकाब में पहचानेगा कैसे? मेरी विवशता को मेरा मन ही जानता था। मैं मिन्नतेंकरने लगी। किसी तरह पानी का यह उफान कम हो जाए। वर्ना आज के दिन मेरे घर को डूबने से कोई नहीं बचा सकता। मैं घबराने लगी। लेकिन किसी तरह खुद को संभाला। नीति ने कहा 'इतना घबराने कि जरूरत नहीं है। वह केवल एक इंसान है। कोई सैलाब नहीं जिसमें तू बह जाएगी।' शहर का महौल इन दिनों काफी बिगड़ा हुआ था। जब से प्रशासन ने मुश्ताक अहमद को मारा है, तब से शहर में काफी दहशत का माहौल बना हुआ है। हिन्दू-मुस्लिम एक दूसरे को इस निगाह से देखते हैं कि कब मौका मिले और म्यान में रखी तलवारों की प्यास को ताजा रक्त मिल जाए। कल पिता जी ने कहा था, शहर ज्वालामुखी की तरह धधक रहा है। कब कहाँ पर क्या हो जाए कोई नहीं कह सकता है। राजनीति की रोटियाँ शायद इसी आग पर सेंकी जाती हैं। ऐसे में मैं एक हिन्दू लड़की किसी मुस्लिम लड़के से मिलूँगी, यदि किसी ने देख लिया और पहचान लिया तो जाने क्या से क्या हो जाएगा। सब कुछ मन की दीवारों पर किसी इलेक्ट्रानिक पल्स की तरह चल रहा था। नीति ने आवाज दी 'देख वह आ गया। जा उससे मिल ले मैं यहीं तेरा इंतजार कर रही हूँ।' मेरा उत्साह अब भय में बदलने लगा था। अभी तुरंत मुझे लगने लगा कि मैं सभी हिन्दू समुदाय के लिए बहन न बन जाऊँ। कहीं मुझे कोई देख लेगा और पहचान लेगा तो इस लड़के का क्या हश्र होगा? जबकि मैं सिर्फ उससे इंसानियत के नाते मिल रही थी। बहुत से सवालों से मैं उलझती जा रही थी। मैं चेहरे पर नकाब डाले उस तरफ गई जहां शर्मा जी बैठे थे, जो अब वहाँ नहीं थे। उसके पास जाने के बाद मैंने कहा 'हैलो...शोएब मैं नीता' उसने मेरी ओर देखते हुए कहा?

'अरे आप मेरा नाम जानती हैं…कैसे?'

'हाँ नाम तो जानती हूँ...जहां आप रहते हैं, वह पूरी जगह आपका नाम जानती है' मैं यह कहते हुए आगे बढ़ गई। कुछ दूर हम साथ चले। जिस तरफ हम थे उसके दूसरी तरफ नीति बैठी थी। और वहीं से कुछ दूरी पर कुछ लोग थे जो शहर के माहौल पर रेडियो बने हुएथे। ताजा-तरीन खबरों को प्लेट पर सजाकर एक दूसरे को परोस रहे थे। हम दोनों एक बेंच देखकर बैठ गए। बैठते ही शोयब ने कहा 'आप नकाब हटाएँगी या यूं बातचीत करेंगी' 'मैंने कहा नकाब हटाने की जरूरत है क्या?' शोयब ने तपाक से कहा 'एकदम है, नकाब

पहनने की जरूरत क्या है...यहाँ तो आप ही के लोग हैं' उसका इतना कहना उस दर्द को बयान कर रहा था कि यहाँ उसका अपना कोई नहीं। कितनी बड़ी खाई थी हम दोनों के बीच जबकि हम दोनों एक दूसरे के पास बैठे थे। मैंने नकाब हटाते हुए, उससे नजरें मिलाकर कहा 'मैं आपके पास बैठी हूँ...कम से कम आप मुझे अपना समझकर ऐसा न कहें। यहाँ आपके भी लोग हैं। यह जो लोग बैठे हैं वह हम सभी के लोग हैं।' उसने कहा 'कहने और सुनने में यह ठीक लगता है लेकिन असलियत कुछ और ही है। सदियों पहले यहाँ क्या हुआ न ही आप जानती हैं और न ही मैं जनता हूँ। हम वही जानते हैं जो इतिहास की किताबों में दर्ज है। इतिहास सबका अलग है। जो सदियों पहले हुआ उसकी सज़ा हमें क्यों दी जाती है। क्या चंद लोगों के जिहादी होने से सारी कौम तो जिहादी नहीं हो जाएगी' उसने बात तो एकदम तार्किक की...मगर उसकी तार्किकता में दर्द ज्यादा था। सच ही तो कह रहा था, कुछ लोगों के जिहादी होने से सारी कौम तो जिहादी नहीं बन सकती है। मैंने बात बदलते हुए कहा कि 'आप कौन हैं और यहाँ क्या करने आएं हैं?' उसने कहा 'मैं यहाँ अपने खाला की बेटी की शादी में आया हूँ और अपने चचा जाँ के घर की मरम्मत के लिए भी। मगर शहर का माहौल अभी खुशनुमा नहीं है...जिसके कारण थोड़ा समय लग रहा है और मुझे यहाँ रुकना पड़ रहा है। अब सोचता हूँ चला जाऊँ। अगली बार देखा जाएगा।' मैं समझ गई यह अकील अंकल का भतीजा है। अभी मैं सोच में ही थी कि उसने कहा 'आप बताएं आप मुझसे क्यों मिलना चाहती थीं?' मैंने कहा 'कुछ विशेष नहीं बस यही देखना चाहती थी कि आप सुबह जाते हैं और देर रात घर वापस आते हैं। ऐसा क्यों करते हैं आप' उसने बड़े ही मासूम लहजे में कहा 'जब रात को कॉलोनी सो जाती है तो मुझे वह जिंदा इन्सानों की कॉलोनी नजर आती है और जब सुबह जागती है तो मुझे लगता है कि मेरा वहाँ दम घुटता है। सबकी नजरें मुझ पर ही टिकी रहती हैं। इसलिए मैं सुबह जल्दी चला जाता हूँ और देर रात घर वापस आकार सो जाता हूँ। ताकि मुझ पर किसी की नजर का साया भी न पड़े' इतने में मेरे फोन की घंटी बजी...स्क्रीन पर देखा तो शर्मा जी का नाम छप के आ रहा था। मैं डर गई। चारों तरफ नजरें उठाकर देखा वह नहीं थे। मगर उनका इस तरह अचानक से फोन आना, खतरे की घंटी लग रहा था। मैंने इग्नोर किया। शोयब ने कहा 'आप कॉल उठा लें' मैंने कहा 'नहीं कोई आवश्यक नहीं है' तकरीबन पाँच मिनट बाद फिर से फोन बाजा और इस बार माँ का कॉल था। मैंने फोन उठाया। माँ ने कहा 'तुम कहाँ हो इस वक्त...तभी दूसरी तरफ से पिता जी की तेज आवाज आई...तुम जिसके साथ हो मुझे पता है। शर्मा जी ने अभी कॉल किया था। मैं आ रहा हूँ तुम कहीं जाना मत...' इसके बाद कॉल डिसकनेक्ट हो गई। मैंने दुबारा फोन किया लेकिन माँ का फोन रिसिव नहीं हुआ। मैंने नजर उठा के देखा तो शर्मा जी कई लोगों के साथ पार्क के मेन गेट पर खड़े थे। आंखों के चारो तरफ अंधेरा छाने लगा। जैसे लग रहा था यह सब अचानक से क्या हो गया। इतने देर में शर्मा जी मेरे सामने आकर खड़े हो गए। उनको देखने के बाद में मेरी नशों में दौड़ रहे रक्त की रफ्तार बढ़ गई। दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। उनके साथ कुछ लोग थे जिनकी आँखों में नफरत और गुस्सा साफ झलक रहा था। मेरी नजर नीति की तरफ गई जो दूर एक पेड़ के आड़ में खड़ी, छुपकर मुझे देख रही थी। आसपास के लोगों की नजर हमारी तरफ थी। शर्मा जी ने कहा 'बेटा आप यहाँ इसके साथ क्या कर रही हो? क्या माजरा चल रहा आप दोनों के बीच?' मुझे यकीन नहीं हो रहा था कि हमारा मिलना समाज कि नजरों में एक माजरा बन जाएगा। मैं चुप रही। शोयब ने मेरी तरफ देखते हुए कहा कि 'मैं चलता हूँ, आपके कहने पर मैंने आपसे मिलने के लिए कहा, मैं इसलिए डरता था कि कहीं कोई बखेड़ा खड़ा न हो जाए और...' उसे बीच में रोकते हुए शर्मा जी ने कहा 'तुम जिहादी हमारे घर की भोली-भाली लड़की को बहका रहे हो' उनके इशारे पर दो लोग ने शोयब को पकड़ लिया। उसे उसी बेंच पर धड़ाम से बैठाते हुए...लगे गालियाँ बकने। शोयब की एक भी बातसुनी नहीं गई। मैं खुले विचारों की होकर भी खुद को असहाय और बेबस पा रही थी। कुछ देर में पिता जी और कॉलोनी के कुछ लोग आ गए। माहौल एकदम से सूरज की तरह गरम हो चुका था। मुझे ज़बरदस्ती गाड़ी में बैठा दिया गया और मैं असहाय उसे देखती रही। उसके लिए कुछ न कर पाने की टीस मुझे बेचैन कर रही थी। मैंने देखा वह उस निर्दोष आदमी की तरह चुपचाप डरा-सहमा कटघरे में खड़ा है, जिसे झूठे आरोपों से गुनहगार बनाया गया हो। उसके बाद गाड़ी घर की ओर रवाना हो गई और वह लोगों के भीड़ के बीच खड़ा धीरे-धीरे अदृश्य होता गया। घर आने के बाद माँ को शख्त हिदायत दे दी गई कि मैं घर के बाहर कदम नरख पाऊँ।

शहर ज्वालामुखी की तरह धधक रहा है। कब कहाँ पर क्या हो जाए कोई नहीं कह सकता है । राजनीति की रोटियाँ शायद इसी आग पर सेंकी जाती हैं । ऐसे में मैं एक हिन्दू लड़की किसी मुस्लिम लड़के से मिलूँगी, यदि किसी ने देख लिया और पहचान लिया तो जाने क्या से क्या हो जाएगा । सब कुछ मन की दीवारों पर किसी इलेक्ट्रानिक पल्स की तरह चल रहा था ।

मेरा फोन मुझसे ले लिया गया। पापा पूरे दिन घर में नहीं थे। माँ भी अनमनी सी थी। रहें भी क्यों नहीं...आज उनकी घर की बेटी घर की इज्जत को बाजार में बेंच आई थी। किस भाव में किसी को नहीं पता। लेकिन हाँ एक बात थी की भाव बहुत महंगा था। शाम हो गई। मुझे चिंता हो रही थी शोयब कहाँ होगा? किस हाल में होगा? मैं क्यों उसे मिलने गई। तकरीबन सात बजे के करीब पापा घर लौटे। बेहद गुस्से से भरे हुए थे। आकार मुझ पर बिन बादल के ही बरस पड़े 'आज तुम्हारी वजह से समाज में मेरी नाक कट गई। सारा समाज कह रहा है कि आपकी बेटी ऐसी होगी किसी ने सोचा नहीं था। तुमने मुझे कहीं का नहीं छोड़ा। मुझे शर्म आ रही तुम्हें अपनी बेटी कहते हुए' कहते-कहते वो ऊपर वाले कमरे में चले गए। मैं सोफ़े पर बैठकर सोचने लगी कि मेरे और शोयब के पाक रिश्ते को समाज कोई और ही दिशा देने पर तुला हुआ है। मैं केवल एक ही बार तो मिली थी और इस समाज के लोगों ने उसे क्या नाम दे दिया? ओह! किस तरह का लांछन मेरे चरित्र पर लगाया गया है...कितना भयानक है इंसान होना। मेरा पढ़ा-लिखा परिवार भी कैसे अनपढ़ों जैसी बातें करने लगा है। रात ऐसे ही गुजर गई। पूरी रात जागती रही। तकरीबन भोर में चार बजे के करीब मुझे नींद आई और आँख खुली तो सुबह के आठ बज रहे थे। मैंने बाहर देखा गर्मी अपने पूरे शबाब पर थी...पर सूरज के स्वच्छ प्रकाश में भी मुझे ये दुनिया धुएँ से भरी दिखाई दे रही थी। मेरी जिंदगी भी इसी धुएँ में कहीं खो गई थी...आगे कुछ नजर नहीं आ रहा था। क्या करूँ किससे बात करूँ। नीति से बात करने कामन था। जानना चाहती थी कल मेरे आने के बाद क्या हुआ? मगर फोन मेरे पास नहीं था। मैं उठकर कमरे के बाहर आई। पापा पेपर पढ़ रहे थे। माँ चाय पी रही थी। घर में सब कुछ मुझे धुंधला दिखाई दे रहा था। पापा ने पेपर पढ़ते हुए कहा 'शहर का माहौल ठीक नहीं है। कल देर रात एक मुस्लिम लड़के की लाश मिली है...भगवान जाने क्या होने वाला है' पापा की बातों में व्यंग्य था। मैंने टीवी ऑन किया। वहाँ खबर चल रही थी कि 'एक मुस्लिम लड़के की लाश संदिग्ध अवस्था में मिली है' मैं घबरा गई। मुझे डर लगाने लगा। मैंने देखा मेरा फोन टेबल पर पड़ा था। मैं झट से फोन उठाकर अपने कमरे में आ गई और दरवाजा अंदर से बंद कर लिया। मैंने नीति को कॉल किया उसने फोन नहीं उठाया। कई बार कॉल करने के बाद उसने फोन उठाया। मैंने कल का सारा हाल पूछा उसने कहा कि 'शोयब को वो लोग लेकर चले गए थे...उनके जाने के बाद मैं चली गई थी। उसके बाद क्या हुआ मुझे नहीं पता। लेकिन जो घटना आज घटी है। हो सकता है व शोयब हो...ऐसा मेरा अनुमान है' इसके बाद उसने फोन रख दिया। मैं सोच में पड़ गई। क्या हुआ होगा कल? कहीं ऐसा तो नहीं शोयब को इन्हीं लोगों...! अरे नहीं-नहीं मैं यह क्या सोच रही हूँ। ऐसा नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा हुआ होगा तो? क्या मैं खुद को माफ कर पाऊँगी? किसी अंधेरी गुफा में मैं फिसलती चली जा रही थी। अपने हालात और कल की घटना से मैं आतंकित हो गई हूँ। यह मैंने क्या कर दिया...क्यों मिलना था मुझे। मेरे मन रूपी गुफा में अंधेरा धीरे-धीरे घना होता जा रहा था। यह सब कैसे हो गया। सब समझ रहे हैं शोयब और मेरे बीच कुछ था लेकिन हकीकत तो मैं जानती हूँ... ऐसा कुछ नहीं था। घर की शशंकित दीवारें मुझे अजीब ढंग से देख रही थीं। काश कुछ पल ऐसे मिल जाएँ जो सुकून दें सके। काश ऐसा हो जाए कि मैं बालकनी में जाऊँ और शोयब सिगरेट पीता हुआ नजर आ जाए। सब कुछ पहले जैसा हो जाए। सब कुछ...इसी उलझन में नीता ने आँखें बंद की और घर की दीवारें उसे शशंकित नजरों से एकटक देखने लगी...एकटक...एकटक।

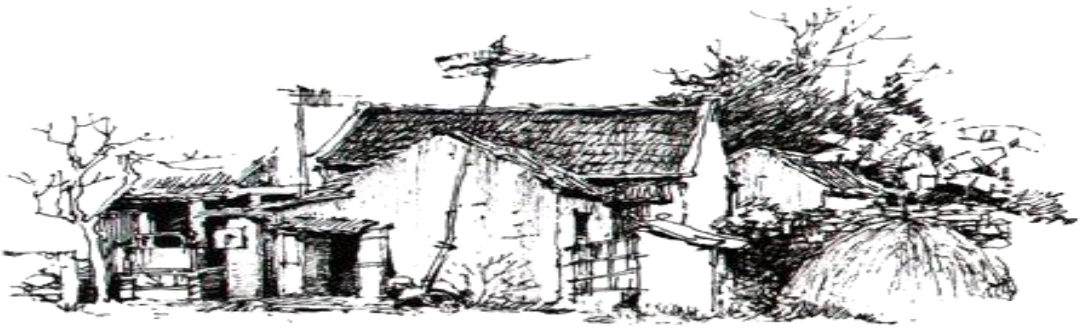

रामविलास शर्मा की दृष्टि में प्रेमचंद

डॉ. हरेराम सिंह

चर्चित कवि व आलोचक। बिहार के रोहतास के काराकाट प्रखंड के करुप ईंगलिश गाँव में निवास। शिक्षा: एम.ए. (हिंदी), पी-एच.डी.। अब तक 38 पुस्तकें प्रकाशित।

रामविलास शर्मा हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों में से खास हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल के बाद बहुत ही गंभीरता के साथ वे पढ़े जाते हैं। इनका लेखन संसार विपुल है। इनमें मौलिक विचारों का ताना-बाना बहुत ही विस्तृत है। इनके लेखन को साधना आसान नहीं है; फिर भी इनकी आलोचना की वैचारिक प्रतिबद्धता अपनी तरफ आकर्षित करने से नहीं चूकती। रामविलास शर्मा की महत्वपूर्ण कृतियों में 'प्रेमचंद' (1941 ई.), 'भारतेंदु-युग' (1943 ई.), 'निराला' (1946 ई.), 'प्रगति और परंपरा' (1949 ई.), 'साहित्य और संस्कृति' (1949 ई.), 'प्रेमचंद और उनका युग' (1952 ई.), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954 ई.), 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' (1955 ई.), 'भाषा और समाज' (1961 ई.), 'साहित्य: स्थायी मूल्य और मूल्यांकन' (1968 ई.), 'निराला की साहित्य साधना' (तीन भाग, 1969 ई., 1972 ई., 1976 ई.), 'भारतेंदु युग और हिंदी साहित्य की विकास परंपरा' (1975 ई.), 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977 ई.), 'नई कविता और अस्तित्ववाद' (1978 ई.), 'परंपरा का मूल्यांकन' (1981 ई.), 'भाषा युगबोध और कविता' (1982 ई.), 'विराम चिन्ह' (1985 ई.), तथा 'हिंदी जाति का इतिहास' (1986 ई.) मुख्य हैं।

रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना को अपने विपुल लेखन तथा तर्कणा से समृद्ध तथा पुष्ट किया है। हिंदी में शिवदान सिंह चौहान तथा प्रकाशचंद्र गुप्त के बाद प्रगतिवादी आलोचना पर गहनता के साथ लिखने, विचार-विमर्श करने और उसे स्थायित्व प्रदान करने वाले आलोचकों में रामविलास शर्मा जी मुख्य हैं। रामविलास शर्मा की प्रगतिवादी दृष्टि पूरे हिंदी साहित्य के इतिहास पर है। वे साहित्य, भाषा और उसकी परंपरा के गहन अध्येताओं में से हैं। उनकी दृष्टि से हिंदी साहित्य का कोई कोना अछूता नहीं रहा है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, निराला उनके प्रिय लेखकों में से हैं।वे साहित्य का मूल्यांकन समग्रता में करते हैं। साथ ही तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक बदलावों के आलोक में सहित्य को परखने, उसकी धारा को बूझने तथा आमजन पर उसके प्रभाव को वे आंकने का कार्य भी करते हैं। रामविलास शर्मा अपने युग के परिवर्तन और प्रभाव को जितनी तीव्रता के साथ महसूस किए हैं उसे उसी रूप में आलोचना में जगह-जगह लिखने की कोशिश की हैं। साहित्य का परिवर्तन समाज, संस्कृति और राजनीति के परिवर्तन से बिल्कुल अलग नहीं होता है। वह तो उसी का प्रतिबिंब होता है। आलोचना साहित्य भी कृतियों के मूल्यांकन के क्रम में इन परिवर्तनों को रेखांकित करते चलता है। साहित्य की आलोचना इतिहास का एक अंग है और उस इतिहास से रामविलास शर्मा भलीभांति परिचित हैं। कहानी और उपन्यास लेखन की परंपरा में जो इज्जत प्रेमचंद की है वही इज्जत आलोचना के क्षेत्र में रामविलास शर्मा को है। रामविलास शर्मा और अकारण प्रेमचंद को रेखांकित नहीं करते हैं बल्कि साहित्य की धारा को प्रेमचंद ने जिस दिशा की ओर मोड़ दिया था, निश्चित ही वह हिंदी कथा साहित्य के क्षेत्र में किसी बहुत बड़ी उपलब्धि से कम नहीं है। प्रेमचंद भारतीय किसानों के अमर शिल्पी हैं और उस शिल्पी के

महत्व को रेखांकित करने और उसकी कृतियों के मूल्यों को स्थापित करने में रामविलास शर्मा का बहुत बड़ा योगदान है।

रामविलास शर्मा ने 'परंपरा का मूल्यांकन' (1981ई.) आलोचना पुस्तक में 'प्रेमचंद' नाम से लगभग एक दर्जन पृष्ठों में प्रेमचंद के संबंध में जो कुछ लिखा है उसकी एक-एक पंक्ति हमें प्रेमचंद को लेकर सोचने पर बाध्य करती है। उन्होंने लिखा है- "प्रेमचंद का युग समाप्त हो गया है या समाप्ति पर है। उनके युग की राजनीति आज बड़ी तीव्र गति से बदल रही है; पुराने आदर्श कसौटी पर कसे जा रहे हैं और नई नई शक्तियाँ रंगभूमि में आकर नेतृत्व की चेष्टा कर रही हैं। सन् 20 और 30 से सन् 40 में बहुत बड़ा अंतर है। यह हमारी प्रगति का चिन्ह है कि एक- एक दशक में एक-एक पीढ़ी- जैसा परिवर्तन होता दिखाई देता है। राजनीति में युग को समाप्त होते देर भी लगती है क्योंकि जिनके हाथ में अधिकार है, वे उसे कठिनता से छोड़ते हैं, परंतु साहित्य में पुराने नेताओं में से कुछ तो नए आगंतुकों का नेतृत्व करने के लिए स्वयं उत्सुक रहते हैं, कुछ अपना कार्य कर चुकने पर यों भी पीछे पड़ जाते हैं। प्रेमचंद के युग को देखते हुए हम कह सकते हैं कि क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रांतिकारी था।"

राजनीति और साहित्य में प्रेमचंद का व्यक्तित्व रामविलास शर्मा की दृष्टि में क्रांतिकारी है, तो उसकी वजहें हैं। प्रेमचंद साहित्य के द्वारा जनकल्याण तो कर ही रहे थे, राजनीति में भी उनकी सक्रियता देश को आजाद कराने की थी।वे गाँधी के विचारों के बहुत नजदीक थे। वे चाहते थे कि अछूतों का उद्धार हो। किसानों का कायाकल्प हो। पर ब्रिटिश राज के जुए को किसी भी कीमत पर फेंकना चाहते थे, क्योंकि उनके शोषण और अनाचार से भारत कंगाल होते जा रहा था और भारतीय किसान दिनोदिन गरीब होते जा रहा था। उनका शोषण ब्रिटिश भी कर रहे थे और भारतीय जमीदार भी। प्रेमचंद के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' (1922 ई.) में किसान और जमींदारों का संघर्ष तीखे रूप रूप में उभर कर सामने आया है। इस उपन्यास से प्रेमचंद की उस दृष्टि का पता चलता है जिसमें वे किसानों के जीवन में खुशहाली देखना चाहते हैं। इस उपन्यास का नायक प्रेमशंकर किसानों के लिए ही जीवन अर्पित कर दिया है। प्रेमचंद का 'गोदान' (1936 ई.) तो किसान जीवन का महाकाव्य ही माना जाता है। जिसमें प्रेमचंद एक किसान को भूमिहीन होते दिखाते हैं। जहाँ वह किसान महाजन और पुरोहितों की वजह इतना दब गया है कि मानो उसका उसका प्राण ही निकल गया है! रामविलास शर्मा ने 'प्रेमचंद' (1941 ई.) पुस्तक में यह बताया है कि उन्होंने प्रेमचंद के व्यक्तित्व को सबसे क्रांतिकारी क्यों बताया है, कारण कि प्रेमचंद की दृष्टि में किसानों का उत्पीड़न अछूता नहीं था। प्रेमचंद लिखा है- "क्रांतिकारी इसलिए था कि उन्होंने किसानों के उत्पीड़न पर ध्यान केंद्रित किया था। उस समय मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं ने कुछ बड़े नगरों के मजदूरों को संगठित किया था पर किसानों में उनका काम, सन् 36 तक, नहीं के बराबर था। राजनीति में प्रेमचंद का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रांतिकारी था इन्हीं किसानों के संदर्भ के कारण, न केवल गाँधी वादियों की तुलना में, वरन मार्क्सवादियों की तुलना में भी।"

> **रामविलास शर्मा अपने युग के परिवर्तन और प्रभाव को जितनी तीव्रता के साथ महसूस किए हैं उसे उसी रूप में आलोचना में जगह-जगह लिखने की कोशिश की हैं। साहित्य का परिवर्तन समाज, संस्कृति और राजनीति के परिवर्तन से बिल्कुल अलग नहीं होता है। वह तो उसी का प्रतिबिंब होता है। आलोचना साहित्य भी कृतियों के मूल्यांकन के क्रम में इन परिवर्तनों को रेखांकित करते चलता है। साहित्य की आलोचना इतिहास का एक अंग है और उस इतिहास से रामविलास शर्मा भलीभांति परिचित हैं।**

इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रेमचंद अपने युग से बहुत आगे थे। रामविलास शर्मा ने अपने लेखन में इसे सोदाहरण सिद्ध किया है। आज किसान पर चौतरफा हमले हो रहे हैं। नए कानून के आलोक में उन्हें पंगु बनाने के हर संभव प्रयास किए जा रहे हैं किंतु किसानों ने अपने बलिदान से अपने आप को बहुत हद तक बचाने की कोशिश की। उनका बलिदान दुनिया के इतिहास में सदा याद किया जाएगा कि उनके अपने ही देश के कानून निर्माताओं ने कैसे उन्हें मरने पर विवश किया और बिन रोटी- पानी के रात- रात भर सड़कों पर जीने को मजबूर किया गया! नई आर्थिक नीति ने किसान के सपने पर तुषारापात किया है, जब प्रेमचंद जीवित थे उस वक्त भी उनके आसपास किसानों पर जुल्म ढाये जाते थे जिससे द्रवित होकर किसानों के पक्ष में प्रेमचंद ने लेखनी उठाई तो सदा के लिए किसानों का ही होकर रह गए। 3 जुलाई 1933 को एक पत्र 'महाजन और किसान' में प्रेमचंद ने लिखा कि- "हम यह नहीं कहते कि हमारे सामाजिक जीवन में महाजन का कोई स्थान नहीं है और न यह कि उससे जनता का कोई उपकार नहीं होता, मगर अभी महाजनों को अपने असामियों पर अत्याचार करने की जो कानूनी सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनमें कुछ कमी होने की परम

आवश्यकता है। सूद की कोई सीमा होनी चाहिए और उसका कुछ दर भी निश्चित होना चाहिए। अभी तो यह हाल है कि किसानों से मूल का कई गुना ब्याज में वसूल कर लिया जाता है, फिर भी मूल ज्यों- का- त्यों बना रहता है। ऐसे उदाहरण घर-घर मिलेंगे कि महाजन ने पचास रुपये देकर असामी पर दो सौ रुपये की डिक्री कराई और उसके पास जो कुछ था वह सब नीलाम करा लिया।"

मतलब साफ है कि प्रेमचंद की दृष्टि में किसान और उनकी समस्याओं का स्थान सर्वोपरि था। इसलिए प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' हो या 'मुक्ति-मार्ग' या 'सवा सेर गेहूँ' किसान की चिंता ही वहाँ मुख्य है। प्रेमचंद के उपन्यास 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में मुख्य समस्या किसानों की है जहाँ प्रेमचंद बड़े मनोयोग से उनकी जिंदगी को रचते चलते हैं। समाज का सबसे निकृष्ट तथा पीड़ित वर्ग आज भी देखे तो किसानों का ही है। आज किसानों पर जमीदारों का शासन तो नहीं है किंतु उसका शोषण अबाध गति से जारी है। बिचौलिए और पूँजीपति उसके जीवन से खेल रहे हैं। बीज भी पेटेंट करा लिए गए हैं और उन्हें पॉकेट में बंद कराकर ऊँची कीमतों पर बेची जा रही हैं। किसान बाजारवाद के चपेट में हैं। उनका शोषण नए तरीके से हो रहा है। प्रेमचंद के समय में किसानों की स्थिति है उससे आज की स्थिति भिन्न नहीं है। हाँ, कपड़े- लत्ते अब लगभग सब को उपलब्ध हैं। औद्योगिक-क्रांति की वजह से यह संभव हुआ है, पर उद्योगपतियों के दबाव और उन को लाभ पहुंचाने के चक्कर में किसान आज भी उपेक्षित हो रहे हैं।

बीसवीं सदी के भारतीय समाज में धीरे-धीरे एक परिवर्तन हो रहा था। साम्राज्यवादी सामंती जुए के नीचे जनता कसमसाने लगी थी और समाज का सबसे दलित-अंग नारी-राष्ट्रीय पराधीनता और घरेलू दासता, दोनों से पिसती हुई नारी- स्वाधीनता के लिए हाथ फैलाने लगी थी। प्रेमचंद ने सबसे पहले इस परिवर्तन को देखा था, उसका स्वागत किया था, उसे बढ़ावा दिया था।

रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद में जहाँ एक ओर गाँधीवाद के आदर्श स्वरूप का दर्शन किया है वहीं दूसरी तरफ मार्क्स के विचारों के नजदीक जाते हुए भी उन्होंने दिखाया है। 'प्रेमाश्रम' के बलराज और कादर खाँ में जहाँ गाँधीवाद का दर्शन किया है वहीं दूसरी तरफ इशारा किया है कि 'अहिंसावाद का नाटक एक भयानक पलटा खाने ही वाला था।' इसके परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए प्रेमाश्रम की कथा को डॉ. शर्मा इस तरह लिखते हैं- "घास तो किसी तरह छिली, अब टेनिसकोर्ट लीपने को कहा गया। डोल और रस्सी मंगाई गई। कादिर डोल लेकर कुंए की तरफ चले परंतु दुखरन भगत घर की तरफ बढ़े। तहसीलदार से कहासुनी हुई, नतीजा यह हुआ कि चपरासी ने धक्का देकर उन्हें जूते लगाना शुरू किया। कादिर खाँ कुएँ से दौड़कर आए और चपरासी के आगे अपना सिर कर दिया। चपरासी ने उन्हें धक्का दिया और मारने के लिए जूता उठाया। अहिंसावाद का नाटक एक भयानकपल्टा खाने ही वाला था कि इक्के पर से आते प्रेम शंकर ने चपरासी को ललकारा।"

मतलब साफ है कि जब कोई किसी को पीटने लगे तो अहिंसा की नीति देर तक नहीं टिक सकती। डॉ. रामविलास शर्मा प्रेमचंद के भीतर के गुस्से को देख रहे हैं और यह बताने की कोशिश कर रहे हैं कि प्रेमचंद का आदर्श जो कि गाँधी का था, स्थिति और व्यवस्था को देखते हुए धड़क रहा था। कमल किशोर गोयनका ने 'प्रेमचंद'(2013 ई.) में लिखा है- "प्रेमचंद हिंसा-अहिंसा, समाजवाद, साम्यवाद आदि पर भी गंभीरता पूर्वक विचार करते हैं और उनकी तुलनात्मक व्याख्या भी करते हैं। वे सन् 1919 में बोल्शेविक उसूलों के कायल होने का उल्लेख करते हैं, किंतु उन्हें कभी व्यावहारिक रूप नहीं देते हैं और उनके प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं।"

'प्रेमाश्रम' उपन्यास गोयनका जी के इस कथन से सहमत होने के लिए बल नहीं देता। डॉ. रामविलास शर्मा भी गोयनका जी से प्रेमचंद का मूल्यांकन अलग तरीके से करते हैं। ललन प्रसाद सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा के संबंध में लिखा है- "सबसे पहले उन्होंने ही प्रेमचंद की इस विशेषता को उजागर किया कि उन्होंने चंद्रकांता और तिलिस्म होशरूबा के लाखों पाठकों को 'सेवा सदन' का पाठक बना दिया। पाठक को मनोरंजन साहित्य से मोड़कर यथार्थवादी और गंभीर साहित्य की पढ़ाई की ओर प्रवृत्त कर देना, वाकई में एक युगान्तकारी काम था। डॉ. शर्मा ने ही इस बात को पकड़ा है कि प्रेमचंद भारतीय जीवन के स्थिर नहीं; गतिमान चित्र पेश करने वाले महान साहित्यकार हैं। वे प्रेमचंद को कबीर, तुलसी तथा भारतेंदु की परंपरा से जोड़ते हैं।"

एक तरफ से कहा जा सकता है कि जिस तरह बाद में नलिन विलोचन शर्मा ने 'मैला आँचल' की गंभीर समीक्षा कर फणीश्वर नाथ रेणु के महत्व को प्रतिपादित किया, पूर्व में ठीक उसी तरह रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के योगदान को रेखांकित कर; उनके कृतित्व की ऊंचाई से सबको परिचित कराया। और एक गंभीर आलोचक के तौर पर उन्हें स्वीकारा। कबीर की परंपरा में उन्हें खड़ा किया। प्रेमचंद गद्यकार के रूप में हिंदी के दूसरे कबीर हैं। जिस तरह से कबीर ने अपने समय के सामाजिक कुरीतियों से लड़े और सत्ता

के दमन के शिकार हुए, ठीक उसी तरह प्रेमचंद ने भी अपने समय के पाखंड व कुरीतियों से लड़े और उनकी कृति 'सोजे वतन' सत्ता के दमनात्मक नीति के शिकार हुई। प्रेमचंद किसानों के लिए ब्रिटिश काल में पानी में डूबते उस तिनके के समान है इसका सहारा पाकर चिट्ठी अपना जान बचा पाती है। रामविलास शर्मा ने 'प्रेमचंद और उनका युग' पुस्तक में लिखा है- "बीसवीं सदी के भारतीय समाज में धीरे-धीरे एक परिवर्तन हो रहा था। साम्राज्यवादी सामंती जुए के नीचे जनता कसमसाने लगी थी और समाज का सबसे दलित-अंग नारी-राष्ट्रीय पराधीनता और घरेलू दासता, दोनों से पिसती हुई नारी- स्वाधीनता के लिए हाथ फैलाने लगी थी। प्रेमचंद ने सबसे पहले इस परिवर्तन को देखा था, उसका स्वागत किया था, उसे बढ़ावा दिया था।"

डॉ. शर्मा की यह टिप्पणी प्रेमचंद को हिंदी उपन्यासकार के रूप में स्थापित करने वाला उपन्यास 'सेवासदन' (1918 ई.) की नायिका सुमन के परिप्रेक्ष्य में की गई है। सुमन अपने पति द्वारा कोसे जाने और धमकाने पर भी पूर्व की स्त्रियों की भाँति न गिड़गिड़ाती है और न पैरों पड़ती है। उसका स्वाभिमान उसे गिड़गिड़ाने नहीं देता है। वह अपने पति की गालियाँ खाने के लिए तैयार नहीं है। प्रेमचंद ने 'गोदान' में धनिया का जो चरित्र निर्मित किया है, वैसा चरित्र संसार के किसी भी सहित्य में दुर्लभ है। धनिया में त्याग है, समर्पण है, स्वाभिमान है, गट्टा के बल पर कमाने की शक्ति भी है। वह पति के साथ जीती भी है, उसे फटकारती भी है। समाज से पंगा नहीं लेती है। वह अपने पोते को दुलारती भी बदली है। वह स्त्री है और स्त्री के दर्द को समझती भी हैं। वह ताउम्र किसी के आगे हाथ नहीं फैलाती। वह प्रेमचंद के सुमन से भिन्न इसलिए है कि वह पिछड़े वर्ग से ताल्लुक रखती है। वह 'त्यागपत्र' की मृणाल भी नहीं है। वह जिंदगी जीना जानते हैं। उसके पास दुख है, पर उसमें इतनी जोर नहीं कि उसे झुका सके। प्रेमचंद का उपन्यास 'रंगभूमि' के संबंध में रामविलास शर्मा ने लिखा है- "'रंगभूमि उपन्यास सन् 30 का आंदोलन छिड़ने के पहले लिखा गया था। प्रेमचंद ने मानो भविष्य की ओर देखते हुए तमाम हिंदुस्तान की जनता की तरफ से अंग्रेजी राज को चुनौती देते हुए सूरदास से कहलाया था- फिर खेलेंगे ज़रा, दम ले लेने दो।"

यह कृति प्रेमचंद की दूरदर्शिता का परिचायक है। वे उद्योगपतियों के नापाक इरादों को समझते थे और यह भी कि किस तरह साम्राज्यवादी अपना विस्तार कर रहे हैं। उन्हें रोके बिना आमजन का कल्याण संभव नहीं है। हमारे ही जमीन पर खड़े होकर वे अमीर होते जाएँगे और हम उनकी गुलामी करने के लिए विवश हो जाएँगे। 'रंगभूमि' का सूरदास अपनी लड़ाई में आगे है। अकेला होकर भी अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहा है। सूरदास के चरित्र द्वारा भारतीयों को प्रेमचंद यह संदेश देना चाहते हैं कि प्रत्येक भारतीय उनके खिलाफ लड़ सकता है। प्रेमचंद के इस उपन्यास के बारे में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- "प्रेमचंद की पैनी निगाह देख रही थी कि हिंदुस्तान की जनता लड़ रही है- बिना किसी पार्टी की मदद के, बिना किसी राजनीतिक नेता की सलाह का फायदा उठाए।"

सूरदास किसका प्रतीक है। वह दलित साहित्य का आधारशिला है। ऐसे नायक का सृजन दलित साहित्यकारों ने भी नहीं किया है। यह प्रेमचंद की विशेष उपलब्धि है। सूरदास हिंदी साहित्य का ऐसा नायक है जिसे अन्याय देख कर चुप नहीं रहा जाता। इसलिए वह लड़ रहा है; क्योंकि वह जानता है कि अगर मिल ना ही है तो लड़कर क्यों न मिटा जाए। काश, यह बात सभी भारतीय समझ लेते ! इस उपन्यास की स्त्री पात्र सोफ़िया भी अपने चरित्र से बरबस आकर्षित करती है। वह स्त्री होकर भी धर्म- भीरू नहीं है। उसकी यह खासियत हमें बहुत आकर्षित करती हैं। उसके संबंध में डॉ.रामविलास शर्मा लिखते हैं- "सोफिया एक मानवतावादी विचारों की लड़की है। वह धर्म के बंधन नहीं मानती। रंगभूमि शायद हिंदी का पहला उपन्यास है इसमें एक ईसाई लड़की और एक हिंदू लड़के का प्रेम दिखाया गया है। प्रेमचंद प्रेम संबंध को धार्मिक पाबंदिओं से ऊँची चीज समझते थे, इसलिए उन्हें कोई तोड़े तो इसे अच्छा मानते थे।"

राजेंद्र यादव भी इसी रास्ते सामंती जकड़नों से भारतीय समाज को निकालना चाहते थे। दलित लेखक के रूप नारायण सोनकर अपने 'डंक' तथा 'सूअरदान' उपन्यास में छुआछूत की भावना का अतिक्रमण करना प्रेम संबंध के जरिए करना चाहते हैं। जातिवाद को मिटाने का यह सबसे सरल रास्ता है; पर यह आसान नहीं है। क्योंकि सामाजिक स्वीकृति मिलनी अभी शेष है। ललन प्रसाद सिंह जी का उदल बनाफर उपजाति का होकर भी राजपूत लड़की से विवाह करता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के महत्वपूर्ण कृति गोदान (1936 ई.) के संबंध में लिखा है- "प्रेमचंद ने 'गोदान' में गाँवों की प्रकृत्ति, वहाँ के किसानों और उनके जीवन के बारे में ऐसे प्रेम से लिखा है मानो ये अब बिछड़ने वाले हों और वह अब इन्हें बार-बार न देख पाएँगे। 'गोदान' के वर्णन और चित्रण में एक अपूर्व आत्मीयता और तल्लीनता है जो प्रेमचंद के उपन्यासों में भी कम मिलती है।"

इसलिए यह उपन्यास इतना गहरा, इतना सच्चा और यथार्थवादी बन गया है कि इसके प्रत्येक पात्र अपने चरित्र को बखूबी भोगते हैं और इतना कि प्रेमचंद की दृष्टि उन्हें कई कोणों से उजागर कर देती है। इस उपन्यास में किसान का शोषण पूर्व की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म तरीके से होते हुए दिखाया गया है। जमींदार को

होरी बेगार देता है और जमींदार ऊपर से देशभक्त और सामाजिक दिख रहा है। 'गोदान' का जमींदार रायसाहब का चरित्र ठीक इसी तरह का है। प्रेमचंद ने उसकी पूरी टीम, जिसके वह संपर्क में है, एक-एककर कलई खोल दी है। गाँव से शहर तक जो शोषण का सिलसिला शुरू है, उससे प्रेमचंद पर्दा उठाते हैं। प्रेमचंद की यह कलाकृति, क्लासिक कृति है। इसका महत्व प्रेमचंद के जाने के बाद भी बना हुआ है। रायसाहब के मित्रों में मिस्टर खन्ना, शक्कर मिल के निर्देशक तथा बैंक के मैनेजर हैं। मिस्टर मेहता और मालती के संवाद भी बड़े लोगों की ओछी मानसिकता को बाहर लाता है। यह उपन्यास 'गोर्की' की 'माँ' और बल्जाक के 'किसान' की श्रेणी का है। यह किसान जीवन की अमर महागाथा है। प्रेमचंद इसलिए भी दलित, पिछड़ों मजदूरों व किसानों के लेखक हो गए कि उन्होंने पहली दफा हिंदी में पिछड़े- किसान, दलित-मजदूर को नायक बनाने का कार्य किया। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास की समीक्षा में उनके इस खूबी को डॉ. शर्मा ने रेखांकित किया है। वे लिखते हैं- "प्रेमचंद ने बेगार करने वाले हैं, हल जोतने वाले, प्लेग और सरकार का मुकाबला करने वाले किसानों को नायक बना दिया। मनोहर, बलराज, कादिर, दुखरन आदि इस उपन्यास के हीरो हैं।"

ठीक 'प्रेमाश्रम' की तरह 'गोदान' में होरी, धनिया, झुनिया, भोला, गोबर तथा 'रंगभूमि' में सूरदास, 'कर्मभूमि' की मुन्नी ऐसे पात्र हैं जिनके संबंध में पूर्व में सोचा भी नहीं जा रहा था कि ये सभी किसी कृति के नायक बनने के गुण भी अपने में रखते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों ने नायक की परिभाषा ही बदल डाले। सूर्यकांत त्रिपाठी का 'चतुरी चमार' भी इसका एक उदाहरण है। प्रेमचंद आम जीवन से रस-पानी ग्रहण कर अपनी कृतियों को सींचा, उसे जीवन प्रदान किया। उन्होंने आम लोगों में वह क्षमता देखी, जिसके बदौलत सत्ता को चुनौती दी जा सकती है। उसे बदला जा सकता है। यह प्रेमचंद की दृष्टि का कमाल ही है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के जीवन-दर्शन के बारे में अपनी राय देते हैं कि- "प्रेमचंद का जीवन-दर्शन इसी संसार में जूझने वाले मनुष्यों के दु:ख-सुख, आशा-निराशा, विजय- पराजय का चित्रण करने में प्रकट होता है। वह पाठक को यह नहीं सिखाते कि यह संसार झूठा है, इसमें रहने वाले मनुष्य झूठे हैं, उनका संघर्ष झूठा है। वह दिखलाते हैं कि मनुष्य जिन परिस्थितियों में पैदा हुआ है, उनसे प्रभावित होते हुए भी उन्हें बदलने की कोशिश करता है।"

और यही कारण है कि प्रेमचंद दुनिया के प्रसिद्ध लेखकों, लोगों के बीच सदा स्मरण किए जाते हैं। वजह वह परिस्थितियों, रूढ़ियों, समस्याओं पर विजय पाने की आशा दिखाने वाले लेखक हैं। उनकी रचनात्मकता आमजन को, दलित- पिछड़ों को, किसान को सकारात्मक ऊर्जा से भर देने वाली है।

प्रेमचंद का जीवन भी अपने आप में प्रेरणादायक है। उनके जीवन को जानने और समझने के लिए डॉ. शर्मा का 'प्रेमचंद का जीवन' अध्याय को आराम से पढ़ने की जरूरत है। प्रेमचंद हृदय से कितने महान थे- इसका अंदाजा सहज है लग जाएगा। डॉ. शर्मा लिखते हैं- "प्रेमचंद कुप्रिन का उपन्यास 'यामा' पढ़ते-पढ़ते बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगे थे। वह एक अत्यंत सहृदय और परदु:ख कातर व्यक्ति थे। उन्होंने जीवन-भर कठिनाइयों का सामना किया, लेकिन अपने मन में उन्होंने कभी कटुता नहीं आने दी। उनके आँसू हृदय में छिपे रहते थे, तरल आँखों में हँसी नाचा करती थी।"

यह प्रेमचंद की प्रगतिशीलता ही थी कि अपने अंदर के दु:ख से दूसरों को दुखी नहीं करना चाहते थे, इसलिए उनकी आँखों में हँसी नाचती थी। प्रेमचंद को हम जितना समझते जाते हैं उतना ही लगता है- कम है। 'मार्क्सवाद और रामविलास शर्मा' (2014 ई.) पुस्तक में भरत सिंह ने लिखा है- "सामंती व्यवस्था के अंतर्गत विनिमय के विकास के साथ दर्शन, देवकथाओं और धार्मिक विश्वासों से अलग हटकर, विकसित होता है। उस व्यवस्था में जो भी मनुष्य को स्वतंत्र रूप से सोचना सिखाता है, वह प्रगतिशील भूमिका निबाहता है।"

प्रेमचंद ने अपने विचारों से, अपने लेखन से, मनुष्य को स्वतंत्र रूप से सोचना सिखाया, जुल्म और शोषण के खिलाफ 'सूरदास' की तरह लड़ना सिखाया, होरी और धनिया के जीवन को आधार बना ब्रिटिश कालीन भारतीय समाज और किसानों की विशेषताओं एवं जीवन-संघर्षों से परिचित कराया। 'कर्मभूमि' के माध्यम से एक बच्ची पर अनाचार की कथा कही, 'प्रेमाश्रम' के द्वारा अनाचार के खिलाफ खड़े होने की सीख दी।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद का समग्र मूल्यांकन करते हुए यह बताने की कोशिश की है कि प्रेमचंद महान हृदय के लेखक थे। उनके हृदय में किसानों, दलितों, स्त्रियों के लिए गहरा सम्मान व लगाव था। वे जानते थे की सामान्यजन में ही पुरानी व्यवस्था को बदलने की शक्ति हैं। वे यह भी जानते थे कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक गुलामी को समाप्त करके ही नए समाज का निर्माण संभव है। उनकी पूरी रचनात्मकता के केंद्र में इसी नएपन का आग्रह है, जहाँ हर मनुष्य स्वतंत्रता व आबाद होने की कामना से प्रेरित है।

प्रवासी जीवन से साक्षात्कार कराती सुधा ओम ढींगरा की कहानियाँ

प्रकाश चंद बैरवा

शोधार्थी, हिंदी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
ईमेल: prakash.n.4193@gmail.com

सुधा ओम ढींगरा अमेरिका की नामचीन लेखिका है। भारतीय मूल की लेखिका सुधा ओम ढींगरा लम्बे समय से अमेरिका में प्रवास कर रही है। इनकी कहानियों में एक अलग किस्म की समस्याएँ दिखाई देती हैं, जो प्रवासी जीवन के संघर्ष को मुखरता से बयाँ करती है। उन्होंने अपने प्रवासी जीवन के अनुभवों को अपनी लेखनी के माध्यम से यथार्थ रूप में चित्रित किया है। सुधा ओम ढींगरा के अबतक पाँच कहानी संग्रह- 'कमरा नंबर 103', 'कौन-सी ज़मीन अपनी', 'वसूली', 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' तथा 'टॉरनेडो' (पंजाबी से अनुदित), प्रकाशित हो चुके हैं। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि विदेशों में रह रहे भारतीय साहित्यकारों का लेखन या तो अपने देश की याद में रचा-बसा भावुक साहित्य होता है, अथवा पाश्चात्य संस्कृति को उजागर करता हुआ बोल्ड साहित्य। लेकिन सुधा ओम ढींगरा ने अपनी कहानियों में इन दोनों के बीच एक मध्य मार्ग तलाशा है, जो इनकी कहानियों को न केवल भारत से जोड़े रखता है बल्कि संवेदना के धरातल पर उतरकर पाश्चात्य संस्कृति की पड़ताल भी करता नजर आता है। इनकी कहानियों में पीछे छूटे हुए भारत के बिम्ब नजर आते हैं, जो कई बार कुछ प्रतीकों के माध्यम से आकर एक पाठक को चौंका देते है। सुधा ओम ढींगरा के संदर्भ में पंकज सुबीर लिखते हैं, "सुधा ओम ढींगरा की कहानियों का एक और मजबूत पक्ष यह है कि इन कहानियों में कई बार परिदृश्य भारत के बाहर होने के बाद भी पाठक कहीं भी असहज महसूस नहीं करता है। ऐसा इसीलिए; क्योंकि लेखिका अपने पात्रों को मनोवैज्ञानिक स्तर पर जाकर गढ़ती है और इसी कारण पात्र किसी एक देश या समाज के दायरे में बंधा हुआ नहीं रहता है। इन कहानियों में जो परिदृश्य है, वह किसी भिन्न देश का परिदृश्य होने के बाद भी अपना-सा ही लगता है।"[1]

सुधा ओम ढींगरा की कहानियाँ दोनों ही देशों की संस्कृतियों को प्रतिबिम्बित करती हुई दिखाई देती हैं। इनकी कहानी 'सूरज क्यों निकलता हैं' अमेरिका में बसे निम्नवर्गीय अश्वेत लोगों के जीवन का यथार्थ चित्रण है। कहानी में इन अश्वेत लोगों के साथ अमेरिकी लोगों द्वारा किया गया नस्लीय भेदभाव कितना अमानवीय है लेखिका इसे जीवंत रूप में प्रस्तुत करती है। इस कहानी के सन्दर्भ में तेजेन्द्र शर्मा लिखते हैं, "'सूरज क्यों निकलता है' में सुधा ओम ढींगरा अमरीका के निम्न वर्ग के अश्वेत लोगों के जीवन से हमारा परिचय करवाती है। साथ ही साथ वहाँ के बेघर लोगों का सरकार कैसे ख़याल रखती है, यह जानकारी भी सूक्ष्म तरीके से मिलती है।"[2] इस कहानी को देख प्रेमचंद की चर्चित कहानी 'कफ़न' के कुछ प्रसंग याद आ जाते है। कहानी में पीटर और जेम्स खासे ढीठ किस्म के भिखारी है, जो देखने में 'घीसू' और 'माधव' के अमेरीकन संस्करण हो सकते है। दोनों अपने हाथ में गत्ते का टुकड़ा हाथ में थामे रखते है, जिस पर लिखा होता है 'होम-लेस, नीड यौर हैल्प'। जहाँ एक ओर तो हम यह सोचते हैं कि अमेरिका में बहुत अमीर लोग बसते हैं जिनके पास बड़े-बड़े घर हैं, गाड़ियाँ हैं और चारों ओर सुख समृद्धि हैं। इसके विपरीत यह कहानी दो अश्वेत भिखारियों के माध्यम से अमेरिका में निम्न वर्ग की स्थिति का यथार्थ वर्णन करने में सक्षम हैं- "कई दिनों से उनके गले सूखे हुए हैं,

शराब की एक बूंद उन्हें नसीब नहीं हुई। पूरे बदन में बहुत तनाव है, उसे तनाव रहित करने के साधन नहीं जुटा पाए वे। जेब में वेलफेयर में मिले भोजन के कूपनों के अतिरिक्त एक डॉलर भी उनके पास नहीं है।...''[3]

'सूरज क्यों निकलता हैं' कहानी में पुरुष और स्त्री दोनों ही भोगवादी संस्कृति का शिकार है। यही भोगवादी संस्कृति और घर का संस्कार विहीन वातावरण उन्हें किस हद तक ले जाती है उसका चित्रण भी इस कहानी में किया गया है- "माँ के स्वभाव रहन-सहन और आदतों का परिणाम यह निकला कि बेटियां माँ के नक़्शे-कदमों पर चलती हुई, रोज पुरुष बदलती है और तीन बच्चों की अविवाहित माँ बनकर सरकारी भत्ता ले रही है।''[4] विकसित देशों में 'लिव इन रिलेशनशिप' के अंतर्गत एक स्त्री-पुरुष का साथ केवल स्थायी सुखों तक ही सीमित है। इस तरह की संस्कृति दुनियाभर के समाज को न सिर्फ प्रभावित करती है, बल्कि लोगों को अमानवीय भी बनाती है।

भारतीय संस्कृति जिसे त्याग कहती है। पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति के लिए वह असामान्य है। सुधा ओम ढींगरा कृत कहानी 'टॉरनेडो' भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति की तुलना करती बेहतरीन कहानी है। कहानी में पाश्चात्य जीवन-शैली और भारतीय जीवन-मूल्यों के बीच जूझती मिसेज शंकर नामक पात्र के संघर्ष को उद्घाटित किया गया है। कहानी में प्रमुख पात्र के साथ-साथ स्वयं लेखिका का जन्मभूमि और कर्मभूमि के प्रति अन्तर्द्वंद्व भी कहानी को जीवंतता प्रदान करता है। कहानी में जैनेफर कहती है- 'मिसिज शंकर अबनार्मल है।' वन्दना को यह बात बिल्कुल बुरी नहीं लगती है। वह मुस्कुरा जाती है। "अमेरिकी लोग, प्रीति की आंतरिक समाधि को कहाँ समझ सकते है? जहाँ शारीरिक इच्छा गौण हो जाती है, दैहिक सुख के आगे वे सोच ही नहीं पाते है?... व्योम उससे अलग कब था? वह व्योम ही तो हो चुकी थी। कभी कभी वन्दना सोचती, शायद, श्याम भी मीरा में ऐसे ही समाए होंगे। आंतरिक समन्वय प्रेम की ज्योति प्रज्वलित कर देता है, उसकी लौ पूरा बदन प्रेममय कर देती है, फिर बाहरी सुख की इच्छा नहीं रहती।''[5] कहानी में वंदना के संस्कार ऐसे है कि वह अपनी बेटी के साथ-साथ जैनेफर की बेटी क्रिस्टी को भी उसकी माँ की अनुपस्थिति में प्रेम पूर्वक भारतीय संस्कार देती है। क्रिस्टी अपनी माँ और उसके प्रेमी केलब को बिना सूचना दिए छोड़ चली जाती है, क्योंकि केलब क्रिस्टी के प्रति एक अलग नजरिया रखते है। वंदना के भीतर एक ऐसा संस्कार रचा बसा होता है जिससे कि क्रिस्टी को पाश्चात्य संस्कृति से अधिक भारतीय संस्कृति आकर्षित करती है। इसलिए वह घर छोड़ने के उपरांत ईमेल में वंदना को यशोदा माँ कहकर संबोधित करती है।

सुधा ओम ढींगरा अपनी कहानियों में परिवार के विघटन का उल्लेख कई जगहों पर हुआ। वर्तमान युग में पारिवारिक विघटन का एक कारण अधिक पैसों का लालच भी है। पैसा आज रिश्तों से कहीं ज्यादा अहमियत रखता है। सुधा ओम ढींगरा कहानी 'कौन-सी ज़मीन अपनी' में मनजीत सिंह सोढी अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अमेरिका में रहता हैं, किन्तु उसका मन कभी अमेरिका में रमा ही नहीं। प्रवासी भारतीयों की जिंदगी का यह गंभीर संकट है वो अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहा है। अर्थात प्रवासी आजतक अपनी मिट्टी के मोह से छूट नही पाया है और न ही जिस देश में वह प्रवास कर रहा है उससे जुड़ पाया है। इस कहानी के सन्दर्भ में प्रेम जनमेजय लिखते हैं, "चाहे हम एक ज़मीन पर रहते हैं, पर हम अपनी-अपनी ज़मीन पर अपना-अपना जीवन जीते हैं। इस माटी की गंध से विछोह हमें सब प्रकार की सुख-समृद्धि के बावजूद वंचित-सा अनुभव करवाता है। सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'कौन-सी ज़मीन अपनी' उसी अनुभव की कहानी है।''[6]

'कौन-सी ज़मीन अपनी' कहानी में मनजीत का केवल एक ही सपना हैं कि वह अपना बुढ़ापा अपने देश भारत में गुजरना चाहता है। जिस कारण वह अमेरिका में अपनी कमाई का हिस्सा अपने दारजी को पंजाब में ज़मीन खरीदने के लिए पैसे भेज देता था। जिसके लिए उसकी पत्नी मनविंदर कौर तथा उसके बच्चे मना करते, परन्तु उसका भारत प्रेम ही ऐसा था की वह उनके मना करने पर कहाँ मानने वाला था- "मनविंदर तड़प कर रह जाती, समझाने की सब कोशिशें बेकार हो जाती थीं... चार कारों की किश्तें जाती हैं, इतनी ज़मीनें खरीद कर क्या करेंगे...?''[7] जब मनजीत सिंह सोढी और उसकी पत्नी अपने भारत लौटे तो मनजीत सिंह सोढी बेहद खुश था वहीं उसके परिवार वाले जोकि उसके पैसे पाकर ख़ुश ही होते थे, जब उन्होंने यह सुना की वह अब हमेशा के लिए भारत में ही रहने आया है तो वह दंग रह गए और जिस मनजीत सिंह सोढी से उन्हें प्रेम था अर्थात् उसके पैसों से वह भी अचानक जानी-दुश्मन बन बैठा; जबकि वह उनका अपना ही भाई था। अब जब वह उनके लिए दुश्मन बन ही गया था, तो उन्होंने मनजीत सिंह और उसकी पत्नी को मार डालने का सडयंत्र रच डाला। जिसे गलती से मनजीत ने सुन लिया जिससे उसका दिल ही टूट जाता है और वह अपने इस टूटे दिल को संभाल पाने में भी असमर्थ हो जाता है। वह सोच भी नहीं सकता था कि जिस परिवार के लिए उसने जिन्दगी भर इतना सब कुछ किया आज वह ऐसा भी कर सकता है। इस घटना से मनविंदर सब समझ गयी और मनजीत को साथ लेकर वह घर हमेशा के लिए छोड़ दिया जो उनका भी था- "सौष्ठव देह यष्टि वाली मनविंदर ने मनजीत को बाँहों में भर कर उठने में मदद की। अपना पर्स उठाया और आधी रात में ही दोनों पिछले दरवाज़े से निकल

गए। उनके पाँव के नीचे वही ज़मीन थी, जिसके लिए मनजीत उम्र भर डॉलर भेजता रहा। चारों तरफ गहरा काला अँधेरा था।"[8] मानव मूल्यों के हो रहे पतन को देखते हुए यह कहानी गंभीर समस्याओं की ओर इशारा करती है कि जब तक पैसा है तभी तक रिश्ते नाते भी है। यह बात न सिर्फ काल्पनिक है बल्कि प्रायोगिक भी है।

सुधा ओम ढींगरा ने अपनी कहानियों में स्त्री जीवन के यथार्थ रूप को भी पाठक के सामने ला रखा है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री हमेशा से उपेक्षित ही रही है और आज भी कहीं ना कहीं उसी मानसिकता से उसे गुजरना पड़ता है। वर्तमान युग में स्त्री पुरुष के साथ कदमताल करके चलती है, लेकिन फिर भी उसकी स्थिति कमोबेश वैसी ही है जैसी पहले थी। कहानी 'बेघर सच' की नायिका रंजना भी कुछ इसी स्थिति से जूझती नजर आती है- "तिनका-तिनका चुन कर नर-मादा नीड़ बनाते हैं; फिर वह नीड़ सिर्फ नर का कैसे हो जाता है? मादा का अधिकार उस पर क्यों नहीं रहता? युगों से यही तो होता आया है... नारी गहर की रानी, अधिकार तेरे पानी। पुरुष के मूड पर है कब किस रुख़ बैठे, कई बार एक ही झोंके में नारी के सारे अधिकार पानी में बहा दिए जाते हैं और वे भी नाली के पानी में।"[9] प्रस्तुत कहानी में लेखिका ने यह स्पष्ट रूप से दिखाया है कि बेशक कोई स्त्री अपने पति के साथ कदम से कदम मिलाकर क्यों न चलें, लेकिन उसकी स्थिति घर में वही है जो पहले थी। यहाँ रंजना के माध्यम से सुधा ओम ढींगरा ने यह दिखने का प्रयास किया है कि एक स्त्री का भी अपना अस्तित्व है, लेकिन वह इस पितृसत्तात्मक समाज में कहीं खो कर रह जाता है। इसी प्रकार सुधा ओम ढींगरा ने अपनी कहानी 'क्षितिज से परे' में अपने अस्तित्व को बचाती एक प्रताड़ित स्त्री के विद्रोह को दर्शाया है।

वर्तमान दौर में विदेश को सपने साकार करने और सुअवसरों की भूमि माना जाता है। बहुत से युवक-युवतियाँ वहाँ उच्च शिक्षा के लिए जाते हैं और लौटकर अपने देश जाने की इच्छा रखते हुए भी वापस अपने देश नहीं लौट पाते और वही के होकर रह जाते हैं; उनमें कुछ ही ऐसे होते है जो अपने देश वापस आ पाते हैं। वहीं कुछ लोग ऐसे भी होते है जो किसी देश की नागरिकता पाने के लिए वहाँ विवाह कर लेते हैं। सुधा ओम ढींगरा कृत कहानी 'वह कोई और थी' भी इसी प्रष्ठभूमि पर लिखी गयी कहानी है। जिसमें विवाह के माध्यम से अमेरिका की नागरिकता लेना तथा उसके लिए अपने साथी की हर बात को सहन करना दिखाया गया है। लेकिन उस नागरिकता को पाना और अपने साथी की हर बात को सहन करना कहाँ तक उचित हैं? यह हमारे सामने एक गंभीर प्रश्न है। इसके अतिरिक्त आज समलैंगिकता पर भी काफ़ी हद तक वाद-संवाद होने लगे हैं। समलैंगिकता पर कलम चलाने में पुरुष लेखक बचते दिखाई पड़ते हैं, ऐसे में सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'आग में गर्मी कम क्यों है' लिखना और वह भी पूरी जिम्मेदारी के साथ। कहानी का शीर्षक पूरी कहानी में प्रतिध्वनित होता रहता है। इसके माध्यम से सुधा ओम ढींगरा ने एक रहस्यमयी अँधेरी दुनिया के कुछ पर्दों को उठाने का सफल प्रयास किया है। कहानी उन सभी समस्याओं को एक पाठक के सम्मुख ला रखती है, जो समलैंगिकता से जुड़ी है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सुधा ओम ढींगरा भारतीय मूल की लेखिका है, जो अमेरिका में रहकर साहित्यिक सृजन करती हैं उन्हें विदेशी संस्कृति, विदेशी परिवेश बेचैन करता है तकलीफ देता है जहाँ कोई आँख ऐसी नहीं दिखती जिसमें वे अपनी संवेदनाओं को संवाहित कर सके। इसी कारण सुधा ओम ढींगरा ने अपनी कहानियों में प्रवासी जीवन के संताप और अनुभवों को प्रस्तुत किया है। सुधा ओम ढींगरा की कहानियों का केद्र बिंदु प्रवासी जीवन के अनुभवों के उतार-चढ़ाव हैं। उनकी कहानियों में मुख्य रूप से नारी की स्थिति तथा अस्तित्व का प्रश्न, पारिवारिक विघटन (परिवार का टूटना), सांस्कृतिक द्वंद्व आदि का यथार्थपूर्ण चित्रण देखने को मिलता हैं।

सन्दर्भ सूची

1. सुधा ओम ढींगरा, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, शिवना प्रकाशन, सीहोर (म.प्र.), 2015, पृष्ठ 8-9 (भूमिका)
2. वही, फ्लेप पेज
3. सुधा ओम ढींगरा, कौन-सी ज़मीन अपनी, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ 40
4. वही, पृष्ठ 44
5. सुधा ओम ढींगरा, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, शिवना प्रकाशन, सीहोर (म.प्र.), 2015, पृष्ठ 100
6. सुधा ओम ढींगरा, कौन-सी ज़मीन अपनी, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ फ्लेप पेज
7. वही, पृष्ठ 9
8. वही, पृष्ठ 19
9. सुधा ओम ढींगरा, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, शिवना प्रकाशन, सीहोर (म.प्र.), 2015, पृष्ठ 12

नारी त्रासदी की अंतहीन करुण कथा: बेतवा बहती रही

डॉ. भगवान गव्हाडे

एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय औरंगाबाद, महाराष्ट्र,

ईमेल: bhagwangavhade632@gmail.com

हिंदी की बहुचर्चित, लब्ध प्रतिष्ठित महिला साहित्यकार के रुप में मैत्रेयी पुष्पा का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण सभी विधाओं में आपने मौलिक लेखन करके समग्र भारतीय महिलाओं के दुख, दर्द तथा वेदनाओं को संवेदना का जामा पहनाकर स्त्री जीवन की त्रासदपूर्ण जिंदगी का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। जिससे हमारे भारतीय परंपरागत सनातन धर्म के पुरुषसत्ताक वर्चस्व की चुले हिल गई है। उनके स्मृति दंश, बेतवा बहती रही, इदन्नमम्, चाक, झूला नट, अल्मा कबूतरी, विजन, कही ईसुरी फाग तथा गुनाह बेगुनाह आदि एक से बढ़कर एक उपन्यायों के द्वारा भारतीय स्त्रियों की नारकीय जीवन को अभिव्यक्त किया है। कस्तुरी कुंडल बसै तथा गुड़िया भीतर गुड़िया जैसी हिंदी जगत में तहलका मचानेवाली श्रेष्ठ आत्मकथाओं के लेखन द्वारा भारतीय साहित्य जगत का केंद्र बिन्दु बन गई।

संसार की 'आधी आबादी' के नाम से जानी पहचानी स्त्रियों का जीवन और उपस्थिति उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितना कि प्रकाश अंधेरे से, आकाश धरती से और पानी अग्नि से। लेकिन दुर्भाग्य देखिए कि वही स्त्री संपूर्ण परिवार की जिम्मेदारियों को निभाने के साथ-साथ पढ़-लिखकर घर की दहलिज को लांघकर अपने कार्यक्षेत्र में पूरी निष्ठा और इमानदारी से कामकाज संभालकर सामाजिक कर्तव्यों को भी बखूबी निभा रही हैं। जहाँ तक भारतीय परिप्रेक्ष्य में उसकी आस्मिता, अस्तित्व और अधिकार की बात आती है, तो उसकी तरफ देखने का परंपरागत सनातनी दृष्टिकोण उसके संपूर्ण मनुष्य होने के वजूद को ही नकारता हुआ दिखाई देता है।

विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारतीय स्त्री को अनंत यातनाओं से गुजरना पड़ा है। जिसके लिए एकमात्र कारण है हमारी वर्णव्यवस्था और जातिगत भेदभाव। धार्मिक बंधनों के संदर्भ में विचार किया जाए तो खिश्चन, बौद्ध, इस्लाम के बाद हिंदू धर्म का नाम आता है। जो विश्व में संख्या की दृष्टि से अत्यंत छोटा है। उतना ही यह धार्मिक कर्मकाण्डों में जकड़ा हुआ है। जाति-पाँति और वर्ण व्यवस्था के टुकड़ों में बँटा यह धर्म अपनी स्त्रियों को हर दृष्टि से, हर क्षेत्र में वंचित-उपेक्षित रखकर उसका शोषण, दमण तथा अन्याय-अत्याचार करके उसे मानसिक, शारीरिक और आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से कमजोर करता हुआ दिखाई देता है। यह बात अब पूरी दुनिया में अनभिज्ञ नहीं रही है।

मैत्रेयी पुष्पा द्वारा लिखित उपन्यास 'बेतवा बहती रही' जिसे 1993 में किताबघर प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। यह उपन्यास मैत्रेयी पुष्पा का पहला उपन्यास है। जिसे 1995 में उत्तरप्रदेश साहित्य संस्थान द्वारा प्रेमचंद सम्मान से पुरस्कृत किया गया है। भारतीय पुरुष प्रधान समाज में नारी को हमेशा से दोहरी मानसिकता का शिकार होना पड़ा है। इस पुरुष प्रधान समाज में नारी शहरी हो या फिर ग्रामीण, उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी कलम के माध्यम से स्त्री के खिलाफ होनेवाले उन सभी अन्याय-अत्याचार को अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है।

‘बेतवा बहती रही’ इस शीर्षक के माध्यम से लेखिका ने प्रतीकात्मक रूप में नारी जीवन और नदी की समरूपक तुलना की है, जिस प्रकार नदी अपने भीतर कुड़ा, करकट, गंदगी को बहा लो जाकर जल स्वच्छ करती है। ठीक उसी प्रकार स्त्री भी अपने मन रूपी नदी के भीतर अनेक दुःख और वेदना को सहते हुए, अपने जीवन के प्रवाह में पड़नेवाले हर किसी के साथ वह स्वच्छ रहना पसंद करती है। उनके दुःखों को अपने भीतर बहाते हुए उन्हें सुख देने का प्रयास करती रहती है।

प्रस्तुत उपन्यास बुंदेलखंड की आँचलिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इस उपन्यास को पढ़ते समय संपूर्ण औपन्यासिक चित्रण मानों सजीव-सा प्रतीत होने लगता है। प्रस्तुत उपन्यास केवल एक अंचल की कथा न लगकर वह संपूर्ण स्त्री जीवन की व्यथा-कथा सा हमें प्रतीत होने लगता है। अंचल के स्त्री जीवन के प्रतीक के रूप में हम उपन्यास की केंद्रीय पात्र उर्वशी को देख सकते हैं। मनुष्य जीवन में अभाव और विपन्नता कितना बड़ा अभिशाप हो सकता है। इसे प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से समझा जा सकता है। विपन्नता के अभिशाप के साथ अगर सनातन धर्म का संघर्ष हो तो वह जीते जी स्त्री को मार देता है। जिसका ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत उपन्यास है।

कर्मठ, स्वाभिमानी और कर्तव्यदक्ष व्यक्ति आज के समय में निरंतर ढहते हुए दिखाई देता है। उपन्यास की पात्र उर्वशी, दाऊ और उदय भी इस समाज में निरंतर छलते हुए, पल-पल मरते हुए हमें दिखाई देते हैं। प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा कहती है - “एक बेतवा!........ एक मीरा!....... एक उर्वशी!..... नहीं.... नहीं, यह अनेक उर्वशियों, अनेक मीराओं, अनेक बेतवाओं की कहानी है। ....बेतवा के किनारें जंगल की तरह उगी मैली बस्तियाँ। भाग्य पर भरोसा रखनेवाले दीन-हीन किसान। शोषण के सतत प्रवाह में डूबा समाज। एक अनोखा समाज, अनेक प्रश्नचिन्हों से घिरा।”[1] इसी प्रकार मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्री के उपर अस्तित्व के उपस्थित होनेवाले प्रश्न चिन्हों को भी इस उपन्यास में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

उपन्यास की केंद्रीय पात्र ‘उर्वशी’ राजगिरी गाँव में रहनेवाले गरीब किसान परिवार में जन्मी गौरवर्णी सुंदर कन्या है। भारतीय परंपरा के अनुरूप परिवारवालों ने उर्वशी के भाई की पढ़ाई पर ध्यान देकर उसे पढ़ाया-लिखाया था, लेकिन उर्वशी को केवल कुछ ही कक्षा तक पढ़ा-लिखाकर उसे घर पर बिठवा दिया था। उसका एक मात्र कारण था कि लड़की होना। क्योंकि भारतीय समाज में लड़की को हमेशा पराई संपत्ति के रुप में देखा गया है। इस संदर्भ में उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य है- “अजीत की ही पढ़ाई रेत की नाव सी- सिमट रही थी तो उर्वशी के हाथ कागज पकड़ाने का दुस्साहस कौन करता। बेटी तो वैसे ही ‘पराया घर का दरिद्र’ मानी जाती है। पर उर्वशी पढ़ गयी। चिट्ठी, पत्र लिख सकती थी, पढ़ सकती थी।”[2] एक लड़की जो घर की लक्ष्मी होती है, उसे ही दरिद्री कह देना उसके अस्तित्व पर बहुत बड़ा तमाचा सा लगता है। भारतीय संस्कृति में लड़की को पराया धन समझना आज कल लोगों का धर्म बनते हुए दिखाई देता है।

उपन्यास का पुरुष पात्र ‘अजीत’ है, जो उर्वशी का भाई है। वह स्वार्थी और लोभी प्रवृत्ति का पुरुष है। घर की गरीबी और पिता की असमर्थता का नाजायज फायदा उठाकर वह उर्वशी का शादी के बहाने व्यापार करना चाहता था। वह एक बूढ़े अमीर व्यक्ति से उर्वशी का विवाह कर संपत्ति प्राप्त करना चाहता है, लेकिन उर्वशी के बूढ़े नाना कुछ कर्ज लेकर उर्वशी का विवाह सिरसा नामक गाँव के वकील सर्वदमन से बड़े धूम-धाम से करवा देते हैं। विवाह के पश्चात् उर्वशी सर्वदमन के साथ अपना दाम्पत्य जीवन सुखपूर्ण रूप से गुजार रही होती है। लेकिन एक हादसें में सर्वदमन की मृत्यु हो जाती है। फिर से उर्वशी के जीवन में अंधकार का संचार होने लगता है। उसे अपने इकलौते पुत्र देवेश के साथ वैधव्य का जीवन भोगना पड़ता है।

‘अजीत’ पढ़-लिखकर वन विभाग में नोकरी पा जाता है लेकिन उसका लालची और लोभी मन उसे हमेशा उकसाता रहता है। अजीत को डाँग की लकड़ी चोरी-छुपे बेचने के अपराध में नौकरी से सस्पेंड कर दिया जाता है। नौकरी फिर से प्राप्त करने के लिए उसे कचहरी के चक्कर लगाने पड़ते हैं। उसे पैसों की सख्त आवश्यकता महसूस होने लगती है। तो ऐसे समय उसके मन में अपनी बहन उर्वशी को बेचने के संदर्भ में पुनः एक बार दबी इच्छाएँ जागने लगती है। उर्वशी अपने पति की मृत्यु के उपरांत जेठ और जेठानी के छत्रछाया में जीवन यापन करती है, लेकिन स्वार्थ वश अजीत उसके उपर जेठ के साथ शारीरिक संबंध रखने का आरोप लगाते हुए लोग लाज का झूठा बहाना देकर उसे अपने गाँव राजगीरी वापस ले आता है। उर्वशी की बचपन की अंतरंग सहेली मीरा के पिता बरजोरासिंह से वह जबरदस्ती उर्वशी का विवाह निश्चित कर देता है। भाई के प्रति घृणा और विद्रोह की इच्छा उर्वशी में थी, लेकिन बूढ़े माँ-बाप को देखकर वह असह्य महसूस करती है। वह बेतवा नदी के पानी को देखते हुए कहती है- “ओ बेतवा मइया अब किसी पर आस विश्वास नहीं, अपना माँ जाया भाई ही दुसमन बन बैठा तो अब कहाँ ठौर...... जहाँ कहीं गयी दो घड़ी चैन से न कट सकी। प्रश्नों के लिए पल-पल भारी.... समेट माँ मेरे पाप-पुन्न।”[3] इन सारे यातनाओं के परिणाम स्वरूप उर्वशी आत्महत्या करने का प्रयास करती है।

उर्वशी नदी में छलांग तो लगा देती है, लेकिन पास से गुजरने वाला एक मल्लाह उसे बचा लेता है। उसका भाई अजीत बरजोरसिंह से उर्वशी का पुनर्विवाह कर देता है। उर्वशी की अंतरंग

विधुर सहेली मीरा उर्वशी को अपनी सोतेली माँ बनकर आयी हुई देखती है तो वह हक्का-बक्का रह जाती है। लेकिन पुरुष वर्चस्ववादी संस्कृति के खिलाफ वह कुछ बोल नहीं पाती। उर्वशी अपने बेटे से दूर होकर मीरा के यहाँ आ जाती है। मीरा की शादी भी सर्वदमन के मित्र राघवेंद्र से कर दी जाती है। मीरा के जाने के बाद उर्वशी किसी यंत्र के समान जीवन बीताने लगती है। जब मीरा उर्वशी के पास आ जाती है तो उर्वशी के खुशी का मानो ठिकाना नहीं रहता। इस संदर्भ में प्रस्तुत उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य है- "रोम-रोम उससे लिपट जाने को आतुर। अपमान उसका, उर्वशी या...इस धरती का जन्मी हर औरत का...पता नहीं....भीतर कोई शोला भारी होती जा रहा था, दम घोटने को।"[4] इसी प्रकार मैत्रेयी पुष्पा ने संपूर्ण स्त्री जीवन की अंतरंगता को उपयुक्त शब्दों के माध्यम से नारी के उपर होनेवाले अन्याय अत्याचार और शोषण का चित्रण प्रस्तुत किया है।

अपने उपर होनेवाले अमानवीय अन्याय-अत्याचार को उर्वशी चुपचाप सहन कर लेती है। लेकिन विजय की नवोढ़ा बहु के लिए वह आवाज उठाती है। बरजोरा सिंह के विरोध में जाकर वह उदय से उसकी दुबारा शादी करवा देती है। उसके मन के अंदर दबी-कुचली स्त्री विद्रोह पर उतर आती है। इस संदर्भ में लेखिका कहती है, "उदय की शादी के लिए जो लोग आए वै पइसावाले है, अपनी बिटिया के लिए आसानी से उदय जैसा वर खोज लेंगे लेकिन हमारे विजय की बहु.... कहाँ जाएँगी वह? कौन ब्याहने आएगा उसे? तुमने कब हूँ सोची जें बात? कैसे कटेगी उसकी जिंदगी...।"[5] एक स्त्री ही दूसरे स्त्री का दुःख और दर्द जान सकती है, जिसे उसने स्वयं झेला है, भोगा है। उसे एक स्त्री ही समाज में यथोचित स्थान दिला सकती है, जो स्थान उर्वशी ने विजय की पत्नी को दिया है। यहाँ सही अर्थों में हमें स्त्री-विशर्म की झलक देखने को मिलती है।

उर्वशी को प्राप्त कर बरजोरसिंह खुश था, लेकिन उसके मन में स्वयं की बिमारी की खबरे जानकर शंका उपस्थित होती है। वह शंकालु प्रवृत्ति का बनने लगा था। परिणाम स्वरूप वह उर्वशी के सौंदर्य से आशंकित हो जाता है। अब वह उर्वशी के विपत्ति के संदर्भ में सोचने लगता है। विजय की मृत्यु के पश्चात उसकी पत्नी को जब उर्वशी उदय के साथ ब्याह कर लाने का प्रस्ताव रखती है, तो बरजोरसिंह को उर्वशी चुनौती लगने लगती है। इसी कारण वह उर्वशी को धिमा जहर दे देता है। परिणाम स्वरूप उर्वशी किड़नी के फेलियर की अवस्था में पहुँच जाती है। और उसकी एक दिन मृत्यु हो जाती है। उर्वशी की अंतिम इच्छा के अनुसार उसे सिरसा गाँव में उदय, मीरा तथा बैरागी आदि लोग ले जाते हैं। बेतवा नदी के निर्मल जल में उर्वशी की कंचन काया समा जाती है। यहाँ बेतवा के रुप में नारी त्रासदी की अंतहीन करुण कथा बहती रहती है।

हमारे भारतीय समाज और संस्कृति के अंतर्गत स्त्री के संदर्भ में स्वतंत्र विचार नहीं किया गया। स्त्री को हमेशा पुरुषी वर्चस्ववादी दृष्टि से देखा गया, उसे दोयम दर्जे का समझा गया। उर्वशी जैसी न जाने कितनी महिलाएँ आज भी इस दोहरे मानसिकता का शिकार होती रहती है। प्रस्तुत उपन्यास हमें इन दोहरी मानसिकतावाले षड्यंत्रकारी, पुरुष गुण को सर्वोपरी समझनेवाले व्यक्ति की पहचान कराता है। मैत्रेयी पुष्पा केवल यहाँ स्त्री के उपर हुए अन्याय अत्याचार को प्रकट नहीं करती बल्कि वह स्त्रियों की पीड़ा, दुःख, दर्द से उभरकर परिस्थिति के खिलाफ आवाज उठाने हेतु भी स्त्री को समझ बनाते हुए दिखाई देती है।

लेखिका ने यहाँ बेतवा नदी का उल्लेख किया है। बेतवा नदी जिस प्रकार मनुष्य की प्यास बुझाकर पीड़ा हर कर वहाँ का माहौल आनंददायी बनाती है। ठीक उसी प्रकार उर्वशी भी अपने द्वारा अपने माता-पिता, भाई सभी का जीवन आनंददायी बनाती है। उपन्यास के अंतर्गत केवल स्त्री की पीड़ा को ही अभिव्यक्त नहीं किया है बल्कि इन समस्याओं से निजात पाने का, अपने आवाज को प्रबल बनाने का, नारी की अस्मिता को जगाने का काम मैत्रेयी पुष्पा ने बखूबी किया है।

संदर्भ सूची:

1. मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, आवरण पृष्ठ से
2. मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 22
3. वही, पृ. 113
4. वही, पृ. 123
5. वही, पृ. 142

मानवीय संवेदना और राम नगीना मौर्य की कहानियाँ

अमित साव

पता- लक्ष्मीपुर माठ, कांटापुकुर,
बर्धमान, पश्चिम बंगाल, पिन-713101
मोबाइल नंबर- 7365013507

हिंदी कहानी का आरम्भ मोटे तौर पर देखें, तो इंदुमति (1900) से होते हुए प्रेमचंदपूर्व, प्रेमचंदयुगीन और प्रेमचंदोत्तर तीन युगों में बँटकर विकसित हुआ है। 1950 के आसपास हिंदी कहानी में एक बड़ा बदलाव आया, वह था 'नई कहानी आंदोलन'। इस आंदोलन के कहानीकारों ने पुराने कहानीकारों के सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर 'भोगे हुए यथार्थ' को प्रमुखता दी। इसके पश्चात् तो हिंदी कहानी आंदोलन का ताँता-सा लग गया। अकहानी, सचेतन कहानी, समानांतर कहानी, समकालीन कहानी आदि को देखा जा सकता है। प्रत्येक कहानी आंदोलन की अपनी प्रतिस्थापनाएं थी, लेखन शैली और चिंतन था। समाज और परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ कहानी का विषय भी बदलता रहा, परंतु मानवीय सरोकार उससे कभी अलग नहीं हुआ। इस तरह हिंदी कहानी सौ वर्षों की विकास यात्रा को तय करती हुई 21वीं सदी में प्रवेश करती है। इसी विकास की राह में सिंधु में बिंदु जितनी भूमिका राम नगीना मौर्य की भी रही है। उनकी कहानियों में भोगा हुआ यथार्थ भी नज़र आता है और समकालीनता भी।

राम नगीना मौर्य मूलतः 21वीं सदी के लेखक हैं। उनकी कहानियाँ 20वीं और 21वीं सदी की धुरी है। अब तक उनके छह कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, 'आखिरी गेंद' (2017), 'आप कैमरे की निगाह में हैं' (2018), 'सॉफ्ट कॉर्नर' (2019), 'यात्रीगण कृपया ध्यान दें' (2020), 'मन बोहेमियन' (2021) तथा 'आगे से फटा जूता' (2022)। इन्हीं छह कहानी संग्रहों से चुनिंदा कहानियों का चयन कर 'राम नगीना मौर्य की 23 चयनित कहानियाँ' शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित हुई है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने पुस्तक 'रसक रंजन' में लिखा है, "चीटीं से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है।"[1] द्विवेदी जी के इस कथन में कविता की जगह कहानी शब्द रखकर देखें, तो "चीटीं से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कहानी हो सकती है।"[2] और इस बात का प्रमाण है रामनगीना मौर्य की कहानियाँ। चींटे का सफ़र, पत्ता टूटा डाल से, रेस्क्यू- ऑपरेशन जैसी कहानियाँ इसकी साक्षी हैं। 'चींटे का सफ़र' में एक चींटे का अपने परिवार या समूह से बिछड़ना या 'पत्ता टूटा डाल से' में एक पत्ते का असमय अपने पेड़ यानी परिवार से अलग हो जाना मात्र एक साधारण घटना नहीं, बल्कि यह एक प्रतीक है उन बे-घरबार, वंचित, शरणार्थी और निर्वासितों का जो अपना वतन, समाज, घर-बार छोड़कर दूसरी जगह आकर बस गए हैं या फिर बसने के लिए संघर्षरत हैं। 'रेस्क्यू ऑपरेशन' एक केंचूए और कुछ चिंटियों के मार्फत से जीवन और मृत्यु के संघर्ष को

दर्शाता है तो साथ ही पारिस्थितिकी खाद्य श्रृंखला की ओर संकेत भी करता है, जो पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण चक्र है।

पाठक अगर पूरे कहानी संग्रह को पढ़े, तो उसे ऐसा अनुभव होगा कि लेखक प्रायः सभी कहानियों में मौजूद है। ऐसा लगता है लेखक ने अपने अब तक के जिए हुए जीवन के हर छोटी-बड़ी घटना, प्रसंगों को टुकड़े-टुकड़े कर कहानियों का शक्ल दे दिया है। उन कहानियों में उनका साहित्य-प्रेम कहावतों, लोकोक्तियों, काव्य पंक्तियों तथा साहित्य के विभिन्न प्रसंगों को उद्धृत कर व्यक्त हुआ है। पुस्तक की भूमिका 'अपनी बात' में वे लिखते हैं, "मेरी अब तक की रचनाएं विभिन्न देश-काल-स्थितियों-परिस्थितियों, मेरे इर्द-गिर्द से जुड़े अनुभवों, स्मृतियों, कल्पनाओं के मद्देनजर उपजीं, रची गईं हैं, जो जाहिरन तौर शनै:- शनै: मेरी रचनावी विकास-यात्रा की मूक गवाह भी रहीं। जैसा कि सर्वविदित है, एक रचनाकार जिस समाज में रहता है, वहाँ वह विभिन्न रचनावी समयों में एक अभिभावक, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी के साथ-साथ विभिन्न प्रोफेशन यथा, वकील, इंजीनियर, साइंटिस्ट, अध्यापक, अफसर, नेता, अभिनेता आदि अलग-अलग भूमिकाओं में भी हो सकता है।"[3] यही कारण है कि लेखक अपनी अधिकांश कहानियों में कहीं पारिवारिक संबंधों का निर्वाह करता हुआ, तो कहीं लेखक, अध्यापक तथा अन्य दूसरी भूमिकाओं में नज़र आता है। लेखक ने किसी बड़े उद्देश्य को केंद्र में रखकर कहानियाँ नहीं रची, बल्कि आम जीवन और घर-गृहस्थी से जुड़ी आपधापी की बहुत साधारण विषयों को रोचक ढंग से कहानियों का रूप दिया है। 'गुनाह-बे-लज़्ज़त', 'सॉफ्ट कॉर्नर', 'तुमने कहा जो था', 'गोद', आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। दो लोग जब पति-पत्नी के पवित्र रिश्ते में बंधते हैं तो उनके काम भी बंट व बंध जाते हैं। अक्सर घर का काम स्त्रियां तथा बाहर का काम पुरुष करते हैं। काम बंध जाने पर जिसके हिस्से का जो काम होता है, उसे ही करना पड़ता है। ऐसे में रिश्तों में खटास आने की गुंजाइश बढ़ जाती है। पत्नी पति से कहती है, "अब

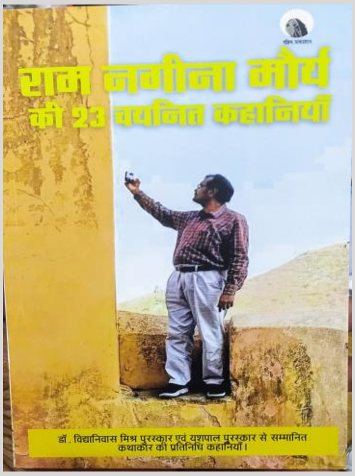

पुस्तक – राम नगीना मौर्य की 23 चयनित कहानियाँ
लेखक – राम नगीना मौर्य
प्रकाशक – रश्मि प्रकाशन, लखनऊ
संस्करण – 2022
मूल्य – 300 रु.
समीक्षक – अमित साव

आगे से हम जब भी घर से बाहर निकलेंगे, तो आप भी इन सब बातों का ध्यान रखेंगे। पंखे –बत्तियाँ-नल की टोटियां-गैस की नॉब आदि बंद हैं या नहीं…? घर के सभी दरवाजे बंद हैं, ठीक से ताला -वाला लगा दिया गया है या नहीं…!"[4] ऐसे में 'गुनाह-बे-लज़्ज़त' कहानी के जरिए लेखक आपसी सहयोग और साझेदारी से गृहस्थी चलाने की बात करता नज़र आता है। 'सॉफ्ट कॉर्नर' में पति-पत्नी के हास्य-विनोदपूर्ण संवादों के जरिए यह बताने का प्रयास किया गया है कि हर किसी के हृदय में एक सॉफ्ट कॉर्नर होता है, जिसमें कुछ लोगों के लिए विशेष स्थान होता है, जिसे वह कभी नहीं भूलता। 'तुमने कहा जो था' पारिवारिक संबंधों के उतार-चढ़ाव को बखूबी सामने लाता। हर रिश्ते में थोड़ी अनबन तो होती रहती है, पर जरूरी होता है समय रहते हुए उस अनबन को ठीक कर लेना। ससुराल और दामाद के प्यारे रिश्ते में भी थोड़ी बहुत नोकझोंक होती रहती है, लेकिन पत्नी अगर समझदार हो, तो कैसे इस नोकझोंक को दूर कर सकती है? वो इस कहानी में देखा जा सकता है। 'गोद' में एक स्त्री जो पत्नी भी है और माँ भी। समय उसे बच्चे को भी देना है और पति को भी। विकट परिस्थिति उसके लिए तब आती जब दोनों एक ही वक्त पर समय चाहते हों, ऐसे में समझौता कौन करे? पिता कहता है, "अरे भई! काम-काज से लौटने के बाद, मुझे भी तो दिनभर के अपने अनुभव तुम्हारी मम्मी से साझा करना होता है। बोलना -बतियाना रहता है। फिर, ज़रूरी नहीं कि तुम हमारी हर बात सुनो ही।"[5] लेकिन अंत में पत्नी के समझाने पर पति की सोच बदल जाती है, "पर इतना यकीन के साथ कह सकता हूँ कि तुम्हारी गोद में आकर हम बाप-बेटे, दोनों को आराम और सुकून मिलता है।"[6] इनकी यही कहानी नहीं, बल्कि अधिकांश कहानियों में पति-पत्नी

का मधुर संबंध दिखाई पड़ता है। स्त्री पात्र पुरुष पात्रों की अपेक्षा ज्यादा समझदार और बुद्धिमती नजर आती हैं, जो हर परिस्थिति को संभालने में सक्षम हैं।

किसी भी रिश्ते के प्रति वफ़ादार होना बेहद जरूरी है। खासकर पति-पत्नी के रिश्ते में। जब हम किसी के साथ विश्वासघात करके, उसे छलने का प्रयास करते हैं तो कहीं-न-कहीं हम खुद छले जाते हैं। इस समस्या को ही सुमित्रा, उसके पति और मनीषा के माध्यम से 'चुभन' कहानी उजागर किया गया है। 'इतवार का राग' में इतवार यानी सरकारी कर्मचारियों के छुट्टी का दिन। इसमें ऐसे ही एक वृद्ध सरकारी कर्मचारी की कहानी है। वृद्धावस्था जीवन की एक सच्चाई है, जिससे हम नजरें नहीं फेर सकते। यह कहानी इसी को बयां करती है। 55 वर्ष के विशम्भर दयाल को किसी युवती द्वारा 'अंकल जी' सुनना उन्हें कतई अच्छा नहीं लगता। उन्हें पहली बार ऐसा लगता है, जैसे कोई उन्हें बूढ़े होने का एहसास दिला रहा हो। वे कहते हैं, "अभी मेरी उम्र इतनी भी नहीं हुई कि कोई मुझे 'अंकल जी' कहे।"[7] व्यक्ति को वक्त के साथ खुद को बदलना चाहिए, हो रहे परिवर्तन को स्वीकार करना चाहिए वरना वह पीछे छूटता चला जाएगा। और एक वक्त ऐसा भी आएगा जब छोटी सी बात भी बिना किसी वज़ह के सुई जैसी चुभ सकती है और उसकी प्रतिक्रिया 'अभी मेरी उम्र इतनी भी नहीं हुई कि कोई मुझे 'अंकल जी' कहे' कुछ ऐसा ही आएगा। 'अनूठा प्रयोग' व्यस्कों की दुनिया में बच्चों की दुनिया को तलाशने की कहानी है जहाँ व्यस्कों की बहस, वार्तालाप, विचार - विमर्श और हँसी-ठिठोली; वात्सल्य, शांत चित्त, उल्लास और प्रेम में बदल जाती है। 'लोहे की जालियाँ' कहानी का उद्देश्य ही उह बतलाना है कि हमेशा हमारे चाहने के अनुरूप जीवन में सबकुछ नहीं होता। कभी-कभी कुछ चीजें अधूरी रह जाती हैं, उसे लेकर हमें परेशान नहीं होना चाहिए। 'गणपूर्ति का खेल' तीन ऐसे मित्रों की कहानी है जो अलग-अलग पेशे से जुड़े हुए हैं। एक पत्रकार है तो दूसरा लेक्चरर और तीसरा किसी ऑफिस में बाबू है। एक लम्बी मित्रता के पश्चात तीनों में धीरे-धीरे मित्रता का जो भाव है, वह कम होता चला जाता है। एक साथ बैठकर बात करते हुए भी वे सहज महसूस नहीं करते। आखिर इसके पीछे की वज़ह क्या है? इसे ही लेखक कहानी में ढूंढ़ता नज़र आता है और पाठकों को भी इसका कारण तलाशने के लिए उत्सुक कर देता है। यह सभी कहानियाँ अलग-अलग भावभूमि को व्यक्त करती हैं, जिसके उद्देश्य बड़े-बड़े न होकर छोटे-छोटे एवं प्रभावोत्पादक हैं।

आज की युवा पीढ़ी कल का भविष्य हैं। और यह पीढ़ी किस दिशा में बढ़ रही है तथा किस दशा में जी रही, इसे दिखाना कहानीकार नहीं भूलता। 'दि बैचलर एंड एन ओल्डमैन' कहानी में लेखक रेल यात्रा कर रहे एक बुजुर्ग तथा युवक के वार्तालाप के जरिए कम उम्र के बच्चों का लिवर, हार्ट, किडनी, डायबिटीज जैसी समस्या से जूझना, युवाओं का शराब पीकर हुड़दंग करना , बिना हेलमेट लगाए स्टण्ड करते हुए अंधाधुंध बाइक्स चलाना, फास्ट फूड पर निर्भर रहना, सेल्फी के चक्कर में जान गवाना, गर्लफ्रेंड को खुश रखने के लिए चोरी करना, टीचर को घुस देकर परीक्षा पास करना, ऐसा युवा देश की प्रगति का भागीदार नहीं बन सकता। रेल यात्रा पर ही उनकी एक दूसरी कहानी 'यात्रीगण कृपया ध्यान दें' में कहानीकार ने मथुरादास के मार्फत से लेखक की सजग नज़र और अवलोकन करने की प्रवृति के साथ ही उसकी समस्याओं भी दिखाया है। सामान्य लोग व सृजनात्मक प्रवृति के लोगों में यही अंतर है कि सामान्य लोगों की दिलचस्पी अपनी यात्रा पूरी करने तक सीमित होती है जबकि सृजनात्मक प्रवृति के लोग उस यात्रा से कुछ ऐसा निकाल लेना चाहते हैं जो उनके कहानी, कविता, संस्मरण आदि का विषय बन जाए। मथुरादास अपनी पत्नी से कहता है, "अरे यार, लिखने-पढ़ने वाला आदमी हूँ। आसपास के प्रति हर वक्त सतर्क सजग रहना पड़ता है। चीज़ों, घटनाओं, देश-काल-स्थिति-परिस्थितियों पर बारीक़ नज़र रखते, गहन पड़ताल करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर कुछ लिखने लायक 'क्लू' मिल पाता है।"[8] सृजन करने वाले चाहे वो रेल यात्रा कर रहें हों या बस की, किसी कार्यक्रम में हों या बाजार में उनकी दृष्टि और दिमाग हमेशा चैतन्य रहती है। 'ग्राहक देवता' और 'ग्राहक की दुविधा' इन कहानियों के शीर्षक से स्पष्ट है कि इसका संबंध व्यवसायिक दुनिया से है जिसके केन्द्र में ग्राहक और दुकानदार है। इसमें लेखक ग्राहक और दुकानदार दोनों के मनोविज्ञान के साथ-साथ उनकी सामाजिक परिस्थितियों को भी उजागर करता है। बाजार का ऐसा दृश्य और बिम्ब निर्माण करता है मानो जैसे सारी चीज़े आपके आँखों के सामने घट रही हों। यह उनकी लेखन की एक विशेषता ही कही जा सकती है। 'फुटपाथ पर जिंदगी' में लेखक की दृष्टि निम्न वर्ग के लोगों पर पड़ती है। जिनका जीवन ही रोज कमाने और रोज खाने पर चलता है। सड़क के किनारे ठेले पर अपना एवं अपने परिवार के जीवन का पहिया खींचता कन्हैया निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। तथाकथित कहे जाने वाले भद्रलोक द्वारा कैसे उसका शोषण किया जाता है उसे भी बखूबी दिखाया गया है। 'रोटेशन सिस्टम से' कहानी को लेखक ने नए कलेवर में ढालकर प्रस्तुत करने का अनोखा प्रयास किया है जिसमें कथा वस्तु पात्रों के माध्यम से नहीं, बल्कि घर की वस्तुओं के माध्यम से व्यक्त होती है। यह कहानी घर में लोगों के रहने के ढंग, उनकी सोच, घरेलू वस्तुओं के पीछे बेफजूल खर्च और घर में अस्त- व्यस्त पड़े सामान का अंबार, परिवार के रहन-सहन व उनकी जीवन शैली को दिखाती है। 'शेष कहानी आगामी अंक में' लेखक की रचना कौशल का अद्भुत

प्रयोग है। इसमें एक कहानी के अंदर एक दूसरी कहानी चलती है। एक में गलतफहमी की शिकार अल्पना निधि की ग्लानि है और दूसरे में नवाज़ुद्दीन साहब की कहानी में एक व्यक्ति का अपनी पत्नी और बेटी की तलाशने की कथा है। इसमें एक अच्छे लेखक के स्वभाव, उसकी उदारता एवं प्रवृतियों की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

देश या समाज की अन्य समस्याओं की बात करें, तो लेखक की दृष्टिकोण उतनी पैनी नहीं हो पाती। 'पंचराहे पर' जो बढ़ती जनसंख्या, सड़क जाम,बढ़ते प्रदूषण पर लिखी गई है, को छोड़कर ऐसी कोई कहानी नज़र नहीं आती जिसके केन्द्र में बेरोजगारी, गरीबी, धार्मिक हिंसा, भ्रष्टाचार, जातिवाद आदि रहा हो। कुछ कहानियों में आंशिक तौर पर प्रदुषण, सड़क जाम, गटर, पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव, बदलते खान-पान, रोजगार पर बात जरूर हुई है, लेकिन वह कहानी का मुख्य विषय नहीं बन पाया है।

इन कहानियों को पढ़ने के उपरांत ऐसा लगेगा मानो लेखक पाठक को उन परिस्थितियों से रू- ब-रू करवाना चाहता है जो सांसारिक जीवन के किसी भी मुकाम पर देखने को मिल सकता है। इतना ही नहीं, उन परिस्थितियों में अपने विवेक व बुद्धि से कैसे उस माहौल को संभाले, यह सिख भी पाठक उससे ग्रहण कर सकता है। देश बनता है प्रदेश से, प्रदेश बनता है समाज से व समाज बनता है परिवार से। यही परिवार उनकी कहानियों का मुख्य विषय है। एक अच्छा परिवार एक अच्छे एवं स्वस्थ देश के निर्माण का अहम भागीदार होता है। अच्छा परिवार तभी बनेगा जब पति पत्नी में सामंजस्य हो, ताकि कोई भी बुरा प्रभाव उनकी संतान पर न पड़े। और यही बात लेखक के चेतन में हमेशा बना रहता है। यही कारण है कि ऐसी अनेक कहानियाँ सामने निकलकर आती हैं। जहाँ तक कहानियों की भाषा और शैली की बात है वह पात्रानुकूल तथा वातावरण के अनुकूल है। कुछ -कुछ ऐसे भी शब्द मिलेंगे, जिसके लिए पाठक को शब्दकोष की सहायता लेनी पड़ सकती है।

पाठक होने के नाते एक बात, जो बताना जरूरी महसूस करता हूँ। राम नगीना मौर्य की कहानियों को पढ़ने के पश्चात् ऐसा अनुभव हुआ, लेखक के ऊपर साहित्य का गहरा प्रभाव हैं। वे अधिकांश कहानियों में विभिन्न लेखकों और उनकी उक्तियों का जिक्र करना नहीं भूलतें। अधिकतर पात्र चाहे उसका संबंध किसी भी पेशे से क्यूँ न हो वह साहित्यिक उक्ति बोलता दिखाई पड़ता है। ऐसे में कहानियों को पढ़ने के क्रम में कहीं-कहीं नीरसता भी आ सकती है। परंतु अंततः यही कहूँगा, जिस उद्देश्य से कहानियाँ लिखी गईं हैं, उसे पढ़ने के उपरांत, पाठक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। इस दृष्टि से यह कहानी संग्रह सफल नज़र आती है। नामवर सिंह लिखते हैं, "जागरूक कथाकार की हर कहानी उसके सामाजिक संघर्ष की दिशा में एक कदम होती है यही दिशा उसकी हर छोटी से छोटी कहानी को वृहत्तर अर्थवत्ता प्रदान करती है।"[9] लेखक समाज के प्रति जागरूक हैं और उनकी कहानियाँ सामाजिक संघर्ष की दिशा में एक कदम ही है जो उनकी हर छोटी से छोटी कहानी को वृहत्तर अर्थवत्ता प्रदान करती है।

संदर्भ सूची

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसक रंजन, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, पृ. 19-20
2. वही, पृ. 19-20
3. राम नगीना मौर्य, राम नगीना मौर्य की 23 चयनित कहानियाँ, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2022, पृ. 7
4. वही, पृ. 99
5. वही, पृ. 189
6. वही, पृ. 189
7. वही, पृ. 42
8. वही, पृ. 148
9. विजय कुमार भारती, प्रगतिशील आलोचना और नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, 2023, पृ. 213

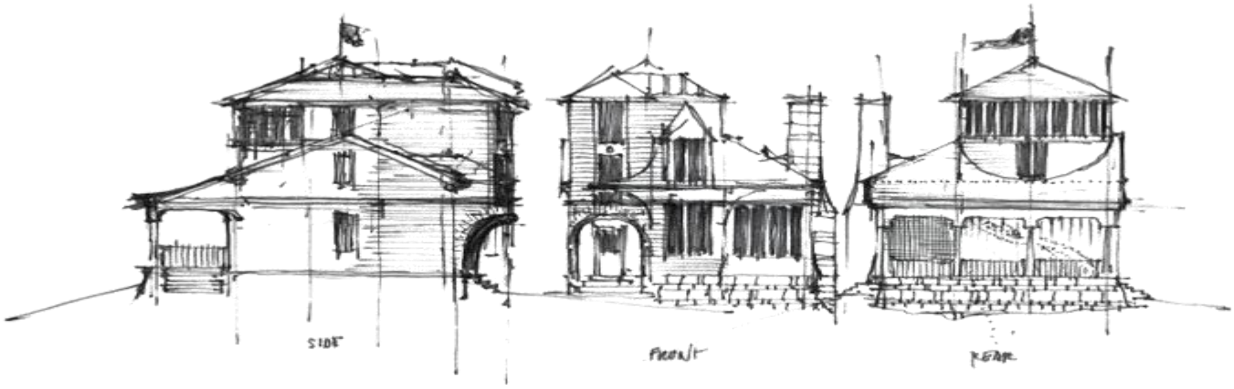

रौशनी के मानिंद हिंदी पट्टी को राह दिखाती 'स्वनिम'

विवेक शील

शोधार्थी, हिंदी विभाग, गुरु घासीदास
विश्वविद्यालय बिलासपुर, छत्तीसगढ़
ईमेल- viveksheel045@gmail.com

देश में जब हिंदी एवं हिंदी के पठन-पाठन और उसकी गंभीरता को लेकर प्रश्न उठ रहे हैं, उस समय हिंदी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय अपनी जिम्मेदारी या दायित्त्वबोध का निर्वहन प्रमाणिकता के साथ कर रहा है। देश में पिछले कुछ वर्षों में हिंदी भाषा और साहित्य में पत्रिकाओं का प्रकाशन तीव्र गति से हो रहा है। यह एक ओर हिंदी भाषाई लोगों के लिए संतोष का विषय है, वहीं दूसरी तरफ हिंदी की गंभीर और प्रमाणिक पत्रिकाओं की अनुपस्थितिके कारण चिंता का विषय भी। प्रायः विभिन्न हिंदी विभागों से, स्वायत्त या वित्तपोषित सरकारी संस्थानों से बहुल संख्या में हिंदी पत्रिकाओंका प्रकाशन हो रहा है। उनमें अधिकांश पत्रिकाओं में गुणवत्ता की कमी है। 'स्वनिम' पत्रिका इस मामले में अपवाद स्वरूप है।

स्वनिम पत्रिका के पिछले दो अंको में प्रकाशित सामग्री के विश्लेषण के पश्चात हम कह सकते हैं कि यह पत्रिका हिंदी भाषा और साहित्य की कुछ चुनिंदा, श्रेष्ठ और स्तरीय पत्रिकाओं में शामिल होती दिखाई दे रही है। हिंदी विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय से निकलने वाली स्वनिम पत्रिका अपनी अल्प उम्र में ही रोशनी के मानिंद हिंदी पट्टी को नयी राह दिखा रही है। स्वनिम सृजन और शोध की संदर्भित एवं पूर्व समीक्षित त्रैमासिक पत्रिका है। स्वनिम पत्रिका का दूसरा और तीसरा अंक (अक्टूबर2022–मार्च 2023) कहानी केंद्रित अंक है। समय की शिला पर शीर्षक से संपादकीय लेख में गौरी त्रिपाठी ने स्वनिम पत्रिका के लिए 'सर्जनात्मक वैविध्य का लघु फलक' कहा है। स्वनिम पत्रिका का अनुक्रम बहुत व्यवस्थित और सारगर्भित है। पत्रिका की अंतर्वस्तु की सरंचना पाँच स्तंभों में हुई। विरासत स्तंभ में प्रेमचंद की अपेक्षाकृत कम चर्चित लेकिन मार्मिक और प्रासंगिक कहानी मुक्तिमार्ग का प्रकाशन किया गया। मुक्तिमार्ग कहानी की तरफ हिंदी के आलोचकों का ध्यान बहुत कम गया है। प्रेमचंद की इस कहानी के चयन व प्रकाशन से स्वनिम पत्रिका के उद्देश्य और साहित्य के प्रति सजकता का हम सहज अनुमान लगा सकते है। स्वनिम पत्रिका का दूसरा महत्वपूर्ण स्तंभ विशेष शीर्षक से है। इस स्तंभ में अवध के अरघान कवि बाबा त्रिलोचन का साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार आशुतोष तिवारी ने लिया है। इस साक्षात्कार में भारतीय साहित्य, ख़ासतौर से बंगला साहित्य, रचनाकार की प्रतिबद्धता, लोक साहित्य, लोकगीत, बोली,आलोचना और कवि की रचनाधर्मिता जैसे व्यापक संदर्भो को लिया गया है।

बाबा त्रिलोचन शास्त्री का साक्षात्कार हिंदी साहित्य की अनुपम निधि है। जनपदीय भाषा के प्रश्न पर बाबा त्रिलोचन का उत्तर रोचक है- ' मैं स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी किया, लेकिन केवल अवध में पूरा भारत मेरा घूमा है। जहाँ के शब्द मुझे अच्छे लगते है वहाँ शब्द मैं प्रयोग करता हूँ। राजस्थान का शब्द दे देता हूँ। पंजाब का शब्द मेरे काम का लगा तो मैं दे देता हूँ। और मेरा यह कहना है कि कवि पूरी राष्ट्रीय चेतना को अंदर रखना चाहिए।' स्वनिम पत्रिका का अंक कहानी केंद्रित होने के कारण लगभग ग्यारह

कहानियों का प्रकाशन किया गया। इन कहानियों में हमारे समय का दारुण सच अभिव्यक्त हुआ है। महेश सिंह की कहानी महामारी में बुधिराम, सारिका ठाकुर की कहानी मोची, रमेश चन्द्र की कहानी सरस्वती, रमेश गोहे की कहानी वनग्राम की लड़कियां आदि उल्लेखनीय कहानियाँ है। वनग्राम की लड़कियां कहानी को हिंदी लंबी कहानियों के कैटलॉग में रख सकते हैं। यह कहानी, गाँव, परिवेश और समाज का व्यापक और मार्मिक वितान खींचने सफल होती है। स्वनिम पत्रिका का विशेष स्तंभ हस्तक्षेप है। इस स्तंभ में वैचारिक प्रतिबद्धता के दिग्दर्शन होते हैं। हस्तक्षेप स्तंभ में समय, समाज और संस्कृति पर आधारित लेख है। स्वनिम के इस अंक में, हस्तक्षेप कॉलम के अंतर्गत हिंदी के तीन वरिष्ठ कथाकार शामिल हैं। तीनों हिंदी के उज्ज्वलमान सितारे हैं। एक ख़त मैकाले के नाम प्रियवंद का प्रसिद्ध लेख है। यह लेख निश्चित तौर पर हिंदी के पाठकों के द्वारा पढ़ा जाना चाहिए। इस लेख में मैकाले की शिक्षा व्यवस्था का सच उभरकर सामने आता है। फ़िलहाल तो कोई मुक्तिमार्ग नहीं है- कथाकार देवेंद्र का लेख है। यह लेख वस्तुतः प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी मुक्तिमार्ग पर आधारित है। लेकिन यह लेख अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए मुक्तिमार्ग कहानी के अलावा प्रेमचंद और प्रेमचंद के समय का मूल्यांकन करता है। देवेंद्र अपने लेख में लिखते हैं- 'वह आदर्शों का युग का था। जीवन और समाज के लगभग हर स्तर पर आदर्श की प्रतिष्ठा थी। कार्यक्षेत्र की भिन्नता के बावजूद गांधी और प्रेमचंद उस युग के सहोदर जैसे थे। दोनों की चिंता के केंद्र में भारत के गाँव थे।' इसी लेख में प्रेमचंद की सीमाओं और दलित साहित्य के आलोचक डॉ. धर्मवीर के मत का समर्थन करते हुए देवेंद्र लिखते हैं- 'डॉ धर्मवीर ने प्रेमचंद की कुछ सीमाओं को बताते हुए 'सामंत का मुंशी: प्रेमचंद' आलोचना की पुस्तक लिखी हैं। वैसे तो पुस्तक का आधार कफ़न कहानी है। प्रेमचंद को लेकर उनकी मुख्य आपत्ति इस बात पर है कि कहानी के दोनों लंपट चरित्र जाति के चमार क्यों हैं। जबकि अमानवीय कारण की प्रक्रिया सवर्णों में ज्यादा होती है। ऐसा करने के पीछे प्रेमचंद पर दलित विरोधी संस्कारों का प्रभाव है।

मुक्तिमार्ग कहानी में हरिहर नामक जो चमार जाति का चरित्र दुष्ट के रूप में गढ़ा गया है उसे देखते हुए डॉ. धर्मवीर की बात काफी हद तक पुष्ट होती जान पड़ती है। बावजूद इन छोटी मोटी आपत्तियों के सचाई यह है कि बाद के दौर में पैदा होने वाले कथाकारों की एक भरी-पूरी पीढ़ी ने प्रेमचंद से कहानी का ककहरा सीखा है।' आजकल हिंदी कहानी पर इतने सुचिंतित व गंभीर लेख बहुत कम देखने को मिलते हैं। फिर तेरा फ़साना याद आया हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार महेश कटारे की रचना है। जिजीवियन स्तंभ गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के नवोदित कवियों-लेखकों के लिए आरक्षित है। एकांत सुष्मिता बारीक की कहानी है। यह कहानी बाल मनोवैज्ञानिक पर आधारित है। एकांत की उम्र लगभग चार-पाँच वर्ष की है। भारतीय समाज में पारिवारिक कलह से उत्पन्न बाल मन पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित करने का प्रयास सुष्मिता ने अपनी कहानी एकांत में किया है। इस अंक में गायत्री पटेल की कहानी अँधेरे में रौशनी की तलाशाभी उल्लेखनीय है। स्वनिम पत्रिका का दूसरा अंक पहले अंक की तुलना में ज्यादा व्यापक और बहुआयामी है। बिलासपुर जैसे छोटे शहर में जहाँ हिंदी साहित्य का तथाकथित स्वीकृत केंद्र भले न हो, लेकिन स्वनिम पत्रिका अपने फलक और वैचारिक आयामों के आधार पर हिंदी के बड़े-बड़े तथाकथित केंद्रों को चुनौती दे रही है। और अंत में फ़िलहाल इतना कि, स्वनिम के अगले अंक के लिए उत्साहित हूँ।

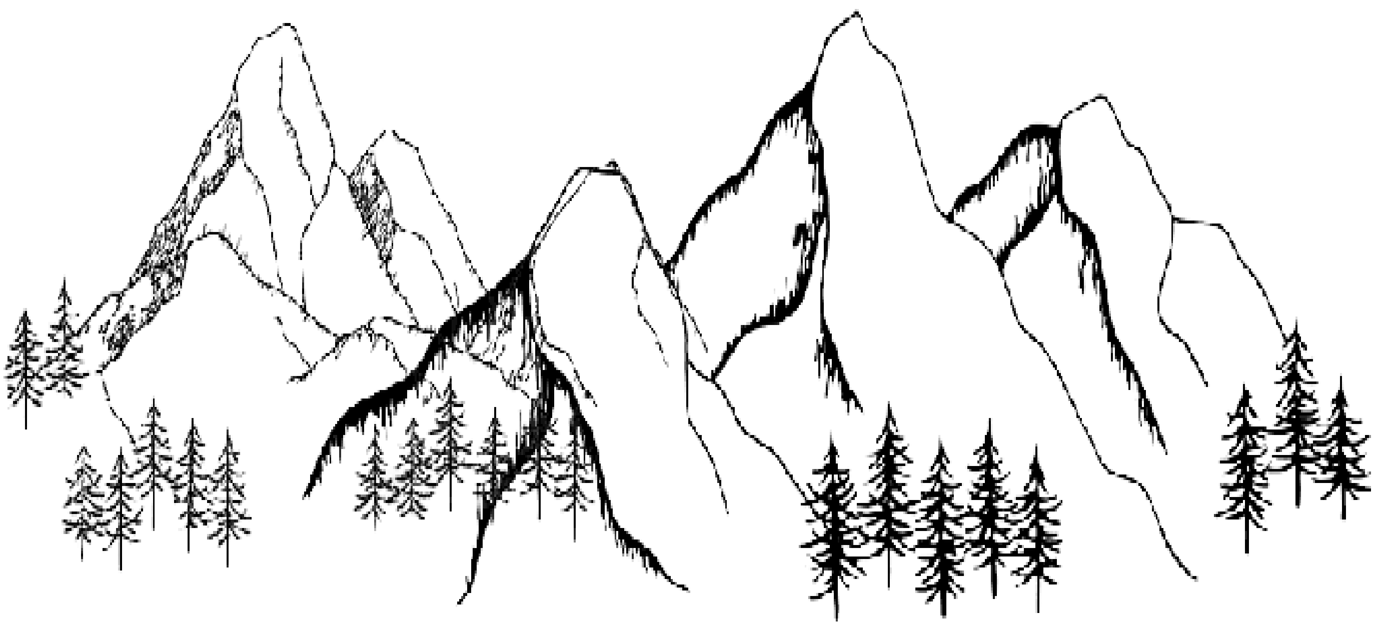

अंशु की कविता

छात्रा, एम.ए. चतुर्थ सेमेस्टर, हिन्दी
विभाग, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय,
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

बेड़ियाँ

ये पाबंदियां, ये बंदिशें
तोड़नी तो है हमें
ये परिवार, ये रिश्ते
ना ही छोड़ने है
ना ही तोड़ने है

फिर कैसे संभव है ये
बिना कुछ तोड़े
बिना कुछ खोए
मिले कैसे अधिकार

टूटना और टूटकर बिखर जाना
ये नियम तोड़ना है
लड़की है इसलिए सहना है
ये धर्म छोड़ना है

'लड़की है समझौता करना पड़ता है'
ये सोच बदलनी होगी
बदलाव तो चाहते हैं
पर रिश्ते तोड़कर नहीं
- बन्धन जोड़कर
परिवार छोड़कर नहीं
- सबको साथ लेकर

बेटियां अपनो में ही
जिंदगी का मकसद ढूंढ़ती हैं
अपनों के लिए सपने तोड़ देती हैं
ये त्याग, ये बलिदान
अब रोकना होगा

अब हम भी उड़ेंगे
और छूएंगे आसमां
कुछ नहीं, बस करके दिखाना होगा
उड़ने दो, देख लिया पिंजरे का दुःख
अब तो दुनिया देखने दो

ना काटो पंख हमारे
हम भी हैं एक प्राण
बोझ नहीं बनना
पैरों पर खड़ा होना है

बेटी को बेटा बोलकर नहीं
बेटी को बेटी बोलकर गर्व करो
पैरों में बेड़ियॉं, हाथों में कलम
जाओ तुम्हें उड़ने दिया
ये कैसा इंसाफ हुआ
बेड़ियॉं तोड़े ना टूटें
ये कैसा साथ हुआ

क्यूँ करें अहसान बलिदान?
क्यूँ सहे अत्याचार?
क्यूँ सुनें हर बात तुम्हारी?
क्यूँ नहीं सुननी तुम्हें हमारी?
क्यूँकि लड़की हैं ?
क्यूँ? लड़की को दर्द नहीं होता?
उसका रक्त नहीं बहता ?
उसमें भावनाएं नहीं होती?
उसका दिल पत्थर का है ?
या उसने पत्थर बना लिया है?
वह खून के आंसू रोती
बस फर्क इतना होता है
वह किसी को दिखाती नहीं
अपने आंसूओं में छूपे लाल रक्त

इस दुनिया में वो दिन लाओ
जब बेटी की दुःख की नहीं
सुख की कहानी लिख सको

कलम उठाकर सिर्फ लिखने
से उद्धार नहीं होगा
बदलाव लाना होगा
चरित्र में, सोच में
समझ में, विचार में

ये तो बस शुरूआत है
मिलों दूर जाना है
एक ऐसी उड़ान भरनी है
जहां कोई लड़की के पंख न काट सके
जहां न हो पाबंदियां,
न हो बंदिशें
न रुकावटे, न झुकावटे, ना समझौते
ना बलिदान, ना पिंजरे
बस अपने और सपने
और उन सपनों को
पूरा करने की हिम्मत
उड़ान भरने की ताकत

हर्षराज की कविता

छात्र, बी.ए. तृतीय वर्ष, हिन्दी विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

कौन समझे रिश्ता

कौन समझे क्या रिश्ता हमारा
हम दोनों का रिश्ता क्या है
सारी उम्र इन आँखों में
एक ही सपना याद रहा,
सदियाँ बीत गयी
वो लम्हा याद रहा,
कौन रामझे रिश्ता हमारा
कुछ ना हो कर भी
बहुत कुछ है
हमारा ना जन्मों का बंधन
ना उम्मीद का दामन
ना पाने की चाहत
ना विछड़ने का गम
कुछ तो रिश्ता हमारा
कौन समझे क्या है
आपसे हमारा ये वादा है
साथ देगें हम हमेशा
यकीन ना हो तो हमें
आजमा लीजिए जब
तक ये जिंदगी है
साथ देगे हम हमेशा वादा है
ये हमारा आपसे
आपका आना-जाना मेरी
जिंदगी मै दुनिया को नजरों से परे !
अनाम सा रिश्ता हमारा सारी
महफिल भूल गए बस वो पल, याद रहा.
तोड़े से भी ना टूटे ऐसा
अठूठ रिश्ता हमारा
कौन समझे क्या है
रिश्ता हमारा जो हमारे
हर बात में सही बनाती है
चाहें क्यों ना गलती मेरी हो
जो हमारे हिस्से के दुखों को भी कर लेती है
आसानी से सहन कौन समझे क्या है
रिश्ता हम प्यार से बहन कहते हैं
बहन कितनी भी नखरे वाली हो
भाई से ज्यादा से कोई नखरे सहन नही कर पाता
भाई के जीवन में बहन जन्नत का दिया हुआ है
जिसके होने से हर घर में रौनक है

रचना आमंत्रण -

1. कविता, कहानी, लघुकथा, उपन्यास अंश सहित सभी साहित्यिक विधाओं की रचनाएं स्वीकार की जाएंगी।
2. एक रचनाकार एक बार में चार से अधिक कवितायें न भेजें।
3. नए विषयों पर आलोचनात्मक लेख, शोध-आलेख व नई पुस्तकों की समीक्षा स्वीकार की जाएंगी। समीक्षकीय पुस्तकों का चयन पत्रिका द्वारा किया जाएगा।
4. लेख व आलोचनात्मक लेख नए विषयों पर एकाग्र हों। उसकी स्थापनाएं स्पष्ट हों। उनमें बेवजह संदर्भों की उबासी न हो।
5. रचनाएँ भेजते समय फोटो के साथ अपना संक्षिप्त परिचय अवश्य दें।
6. पुस्तक समीक्षा भेजते समय समीक्षित पुस्तक व लेखक का भी पूरा परिचय अवश्य भेजें। समीक्षकीय पुस्तक छः महीना से अधिक पुरानी न हो।
7. मौलिक रचनाएं ही स्वीकृत होंगी। मौलिकता के लिए एक संक्षिप्त घोषणा-पत्र देना होगा।
8. शोध-पत्र के लिए संदर्भ साँचा (उद्धरण) ए.पी.ए. शैली में स्वीकृत है। पाठ के अंदर पादटिप्पणी अवश्य दें।
9. रचनाएँ सिर्फ हिन्दी भाषा (देवनागरी लिपि) में और यूनिकोड (कोकिला या मंगल) फॉन्ट में टाइप की हुई ही स्वीकृत होंगी।
10. लेखकों से अनुरोध रहेगा कि अपने लिखे से पूरी तरह संतुष्ट हो जाने के बाद ही प्रकाशन के लिए भेजें। गुणवत्ता और मौलिकता का जरूर ध्यान रखें। हम बेहद सम्मान के साथ आपको प्रकाशित करेंगे।
11. रचनाएँ प्रकाशित करने का अंतिम अधिकार संपादक मण्डल के पास सुरक्षित है। अन्य किसी भी प्रकार की जानकारी के लिए हमें ईमेल (swanimhindiggv@gmail.com) करें। पत्रिका का प्रत्येक अंक ऑनलाइन माध्यम से पीडीएफ़ में गुरु घासीदास विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर उपलब्ध रहेगा।

- संपादक

I ♥ GGV

मनखे मनखे एक समान।

पानी पीहू छान के, गुरु बनाहू जान के।

\- गुरु घासीदास

हिन्दी विभाग

कला अध्ययनशाला

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय

बिलासपुर (छ.ग.)